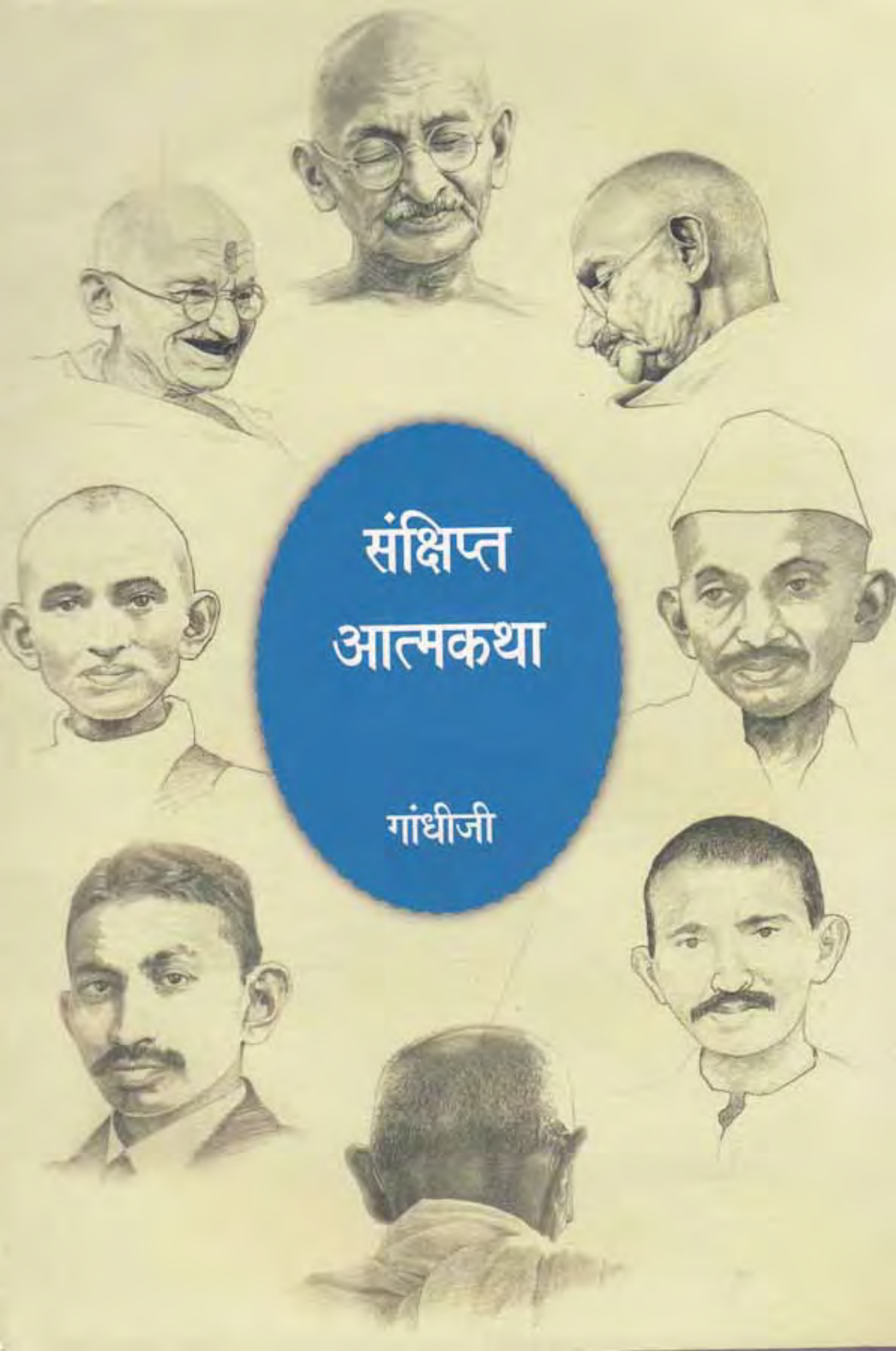

संक्षिप्त आत्मकथा

गांधीजी

गांधीजी की

संक्षिप्त आत्मकथा

लेखक

मोहनदास करमचंद गांधी

संक्षेपकार

भारतन कुमारप्पा

पहली आवृत्ति, प्रति १०,०००, फरवरी २००७

मुद्रक और प्रकाशक

विवेक जितेन्द्र देसाई

नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-३८० ०१४

फोन: +91-79-27540635, 27542634

ई-मेल: sales@navajivantrust.org I वैबसाइट: www.navajivantrust.org

तंत्रीनोंध

गांधीजी की *आत्मकथा* जो अंग्रेज़ी में प्रसिद्ध हुई है; उसके असली स्वरूप में तथा उसमें जो *दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह* का इतिहास है, इन दोनों के कुल पृष्ट क़रीब एक हज़ार होते हैं । इन दोनों पुस्तकों के कथावस्तु को पहली बार संक्षिप्त करके इकट्ठा करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। क्योंकि गांधीजी की शैली ही संक्षिप्त में कहने की है इसलिए यह कार्य सरल नहीं है। एक बात और भी है कि वे सदा जितना उद्देशपूर्ण तथा और महत्त्व का हो उतना ही कहते हैं। अतः उन्हों ने जो भी कुछ लिखा है उसमें काट-छाँट करने से पहले दो बार सोचना ही पड़ेगा।

आधुनिक पाठक गांधीजी की *आत्मकथा* संक्षिप्त में माँगता है। उसकी इस माँग को मद्देनजर रखते हुए तथा शाला-महाशालाओं के युवा-विद्यार्थियों के लिए यह संक्षिप्त आवृत्ति तैयार की गई है। असल ग्रंथ का स्थान तो यह संक्षिप्त आवृत्ति कभी नहीं ले सकेगी; लेकिन ऐसी आशा रखना अवश्य अपेक्षित है कि यह संक्षेप पाठक में जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न करेगा और बाद में अपनी अनुकूलता से जब फुरसत मिलेगी तब वह असली ग्रंथ का अध्ययन करेगा।

इस संक्षेप में गांधीजी के जीवन में घटी सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का समावेश हो ऐसा प्रयास किया गया है, इसमें भी उन घटनाओं का कि जिसका आध्यात्मिक महत्त्व है इस कारण उन्होंने पुस्तकें लिखी हैं । गांधीजी के अपने ही शब्दों को चुस्ती से पकड़ रखे हैं। ऐसी भी कई जगह हैं कि जहाँ संक्षिप्त करते समय शब्दों को बदलने की ज़रूरत मालूम पडी है वहाँ बदल दिये भी हैं; लेकिन यहाँ भी एक बात की सावधानी रखी गई है कि उन्होंने जो अर्थ दर्शाये हैं उसके अर्थ में कोई परिवर्तन ना हो। संक्षिप्त करते समय महादेवभाई देसाई द्वारा तैयार किया गया ग्रंथ *माय अर्ली लाईफ* विशेष उपयोगी हुआ था।

मुंबई, नवम्बर १९५१ **भारतन कुमारप्पा**

प्रकाशक का निवेदन

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा की तरह उसकी संक्षिप्त आवृत्ति की माँग निरंतर बढ़ती जा रही है। श्री मथुरादास त्रिकमजी द्वारा तैयार की गई संक्षिप्त आवृत्ति १९५१ में सर्व प्रथम प्रकाशित हुई थी तब से ही आज तक उसकी ४,५०,००० प्रतियाँ वितरित हो चुकी हैं।

विद्यार्थी गांधीजी के जीवन से परिचित हों इस उद्देश्य से स्वैच्छिक संस्थाओं के द्वारा आयोजित परीक्षाओं में संक्षिप्त आवृत्ति अधिक पसंद की जाती है। ऐसी परीक्षाएँ अब गुजराती तथा हिंदी के साथ साथ अंग्रेज़ी माध्यम की शालाओं में भी आयोजित होती हैं।

गांधीजी के जीवन का परिचय कराने वाला अंग्रेज़ी संक्षेप श्री भारतन कुमारप्पा ने १९५२ में तैयार किया था। उसको तैयार करने में उन्होंने *आत्मकथा* के साथ ही साथ उसके प्रतिरूप समान ग्रंथ जैसे *दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह का इतिहास* को भी उपयोग में लिया था। इस कारण से अंग्रेज़ी संक्षेप, मथुरादास त्रिकमजी के गुजराती संक्षेप से अधिक माहिती सभर और समृद्ध बन पाया है। हिंदी में परीक्षा देने वाले विद्यार्थियों को भी यह उपलब्ध हो ऐसी परीक्षा आयोजकों की माँग है; इस दृष्टि से प्रेरित होकर श्री भारतन कुमारप्पा के संक्षेप की यह हिंदी आवृत्ति का प्रकाशन हो रहा है। मूल गुजराती ग्रंथों के आधार पर भारतन कुमारप्पा के अंग्रेज़ी संक्षेप के मुताबिक़ गुजराती आवृत्ति तैयार करने का काम नवजीवन के मित्र समान श्री अशोकभाई भ. भट्ट ने किया था उसके ही आधार पर यह हिंदी आवृत्ति तैयार हुई है। इस काम में हमारी सहायता की है ऐसे श्री चुनीभाई ब. पटेल और श्री लल्लुभाई रबारी के हम आभारी हैं।

असल पुस्तक तथा इससे पहले प्रसिद्ध हुए संक्षेप की तरह ही इस पुस्तक को भी पाठकों का अपूर्व प्रतिसाद प्राप्त होगा ही ऐसा विश्वास है।

प्रस्तावना

आत्मकथा लिखने का मेरा आशय नहीं है। मुझे तो आत्मकथा के बहाने सत्य के जो अनेक प्रयोग मैंने किये हैं उसकी कथा लिखनी है। उसमें मेरा जीवन ओतप्रोत होने के कारण कथा एक जीवन वृत्तांत जैसी बन जायेगी यह सही है; लेकिन उसके हर पन्ने पर मेरे प्रयोग ही प्रकट हों तो मैं स्वयं इस कथा को निर्दोष मानूँगा! मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोगों का पूरा लेखा जनता के सामने रहे, तो वह लाभदायक सिद्ध होगा अथवा यों समझिये कि यह मेरा मोह है। राजीनीति के क्षेत्र में हुए मेरे प्रयोगों को तो अब हिन्दुस्तान जानता है; लेकिन मेरे आध्यात्मिक प्रयोगों का, जिन्हें मैं ही जान सकता हूँ और जिनके कारण राजनीति के क्षेत्र में मेरी शक्ति भी जन्मी है, उन प्रयोगों का वर्णन करना मुझे अवश्य ही अच्छा लगेगा। अगर ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हैं तो इनमें गर्व करने की गुंजाइश ही नहीं। इनसे तो केवल नम्रता की ही वृद्धि होगी। ज्यों ज्यों मैं अपने भूतकाल के जीवन पर दृष्टि डालता जाता हूँ, त्यों-त्यों अपनी अल्पता स्पष्ट ही देख सकता हूँ।

मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुर भाव से रट लगाये हुए हूँ वह तो आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है; और मेरा राजनीति के क्षेत्र में पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन है। लेकिन ठेठ से ही मेरा यह मत रहा है कि जो एक के लिए शक्य है, वह सबके लिए भी शक्य है। इस कारण मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए। नहीं रहे। उन्हें सब देख सकें तो मुझे नहीं लगता कि उससे उनकी आध्यात्मिकता कम होगी। ऐसी कुछ चीज़ें अवश्य हैं कि जिन्हें आत्मा ही जानती है; जो आत्मा में ही समा जाती हैं। परंतु ऐसी वस्तु देना यह मेरी शक्ति से परे की बात है। मेरे प्रयोगों में आध्यात्मिकता का मतलब है नैतिक, धर्म का अर्थ है नीति; आत्मा की दृष्टि से पाली गई नीति ही धर्म है।

इसलिए जिन वस्तुओं का निर्णय बालक, नौजवान और बूढे करते हैं और कर सकते हैं; इस कथा में उन्ही वस्तुओं का समावेश होगा। अगर ऐसी कथा मैं तटस्थ भाव से निरभिमान रहकर

लिख सकूँ, तो उसमें से दूसरे प्रयोग करनेवालों को कुछ सामग्री मिलेगी। इन प्रयोगों के बारे में मैं किसी भी प्रकार की संपूर्णता का दावा नहीं करता। जिस तरह वैज्ञानिक अपने प्रयोग अतिशय नियमपूर्वक, विचारपूर्वक और बारीकी से करता है; फिर भी उनसे उत्पन्न परिणामों को वह अन्तिम नहीं कहता अथवा वे परिणाम सत्य ही हैं इस बारे में भी वह साशंक नहीं तो तटस्थ अवश्य रहता है, अपने प्रयोगों के विषय में मेरा भी वैसा ही दावा है। मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है; एक-एक भाव की जाँच की है, उसका पृथक्करण किया है। किन्तु उसमें से निकले हुए परिणाम सबके लिए अंतिम ही हैं, वे सच हैं अथवा वे ही सच हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता। हाँ, यह दावा मैं अवश्य करता हूँ कि मेरी दृष्टि से ये सच हैं और इस समय तो अंतिम जैसे ही मालूम होते हैं। अगर न मालूम हों तो मुझे उनके सहारे कोई भी कार्य खड़ा नहीं करना चाहिए। लेकिन मैं तो पग-पग पर जिन-जिन वस्तुओं को देखता हूँ उनके त्याज्य और ग्राह्य ऐसे दो भाग कर लेता हूँ; और जिन्हें ग्राह्य समझता हूँ उनके अनुसार अपना आचरण बना लेता हूँ। और जब तक इस तरह बना हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धि को और आत्मा को संतोष देता है, तब तक मुझे उसके शुभ परिणामों के बारे में अविचलित विश्वास रखना ही चाहिए।

मैं तो सिर्फ़ यह चाहता हूँ कि उनमें बताये गये प्रयोगों को दृष्टान्तरूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्र में आत्मकथा के मेरे लेखों से बहुत कुछ मिल सकेगा क्योंकि कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊँगा नहीं। मुझे आशा है कि मैं अपने दोषों का ख़याल पाठकों को पूरी तरह दे सकूँगा। मुझे सत्य के शास्त्रीय प्रयोगों का वर्णन करना है; मैं कितना भला हूँ इसका वर्णन करने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। जिस गज से स्वयं मैं अपने को मापना चाहता हूँ और जिसका उपयोग हम सबको अपने-अपने विषय में करना चाहिए, उसके अनुसार तो मैं अवश्य कहूँगा कि 'उनसे' तो अभी भी मैं दूर हूँ।

आश्रम, साबरमती — **मो. क. गांधी**

२६ वीं नवम्बर, १९२५

अनुक्रमणिका

तंत्रीनोंध

प्रकाशक का निवेदन

प्रस्तावना

भाग-१ : बचपन और युवावस्था

१. जन्म तथा माता-पिता

२. पाठशाला में

३. बाल-विवाह

४. दुःखद प्रसंग-मैत्री

५. चोरी और प्रायश्चित्त

६. पिताजी की बीमारी, मृत्यु और शरम

७. धर्म की झाँकी

८. विलायत की तैयारी

९. स्टीमर में

भाग-२ : लंडन में विद्यार्थी के रूप में

१०. लंडन में

११. 'सभ्य' पोशाक में

१२. फेरफार

१३. लज्जाशीलता - मेरी ढाल

१४. असत्यरूपी विष

१५. धर्मों का परिचय

भाग-३ : भारत में बारिस्टर के रूप में

१६. वापस हिन्दुस्तान में

१७. संसार-प्रवेश

१८. पहला आघात

भाग-४ : दक्षिण अफ़्रीका में

१९. दक्षिण अफ़्रीका पहुँचा

२०. प्रिटोरिया जाते हुए

२१. प्रिटोरिया में पहला दिन

२२. खिस्ती संबंधी (ईसाइयों से संपर्क)

२३. हिन्दुस्तानियों की परेशानी का अध्ययन

२४. मुक़द्दमे की तैयारी

२५. को जाने कल की ?

२६. नाताल इन्डियन काँग्रेस

२७. तीन पौण्ड का कर

भाग-५ : हिंद की मुलाकात

२८. हिन्दुस्तान में

भाग-६ : वापस दक्षिण अफ़्रीका

२९. दक्षिण अफ़्रीका में आगमन और तूफ़ान

३०. बच्चों की शिक्षा और सेवावृत्ति

३१. सादगी

३२. एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

३३. बोअर-युद्ध

३४. नगर सफ़ाई-आन्दोलन

३५. देश-गमन और कीमती भेंटसौगाद

भाग-७ : देश में

३६. महासभा (काँग्रेस) प्रथम बार

३७. लार्ड क़र्ज़न का दरबार

३८. बम्बई में

भाग-८ : दक्षिण अफ़्रीका में

३९. पुन: दक्षिण अफ़्रीका में

४०. गीता का अभ्यास

४१. इण्डियन ओपीनियन

४२. एक पुस्तक का चमत्कारी प्रभाव

४३. फ़ीनिक्स की स्थापना .

४४. घरों में परिवर्तन तथा बालशिक्षा

४५. 'जुलू-विद्रोह'

४६. ब्रह्मचर्य

४७. पत्नी की दृढ़ता

४८. घर में सत्याग्रह

४९. संयम की ओर

५०. वकालत के कुछ संस्मरण

५१. सत्याग्रह का जन्म

५२. क़ैद

५३. हमला

५४. लड़ाई की पुनरावृत्ति

५५. टोल्स्टोय फार्म

५६. स्त्रियाँ लड़त में शामिल

५७. मज़दूरों का प्रवाह

५८. ऐ भव्य कूच

५९. सत्याग्रह की विजय

भाग-९ : विलायत तथा लडाई

६०. लड़ाई में हिस्सा

भाग-१० : देश में और साबरमती आश्रम की स्थापना

६१. पूणे में

६२. तीसरे दर्जे की विडम्बना

६३. आश्रम की स्थापना

भाग-११ : चंपारन

६४. नील का दाग़

६५. अहिंसा देवी का साक्षात्कार ?

६६. मुक़द्दमा वापस लिया गया

६७. ग्रामप्रवेश

६८. नील का दाग़ धुल गया।

भाग-१२ : अहमदाबाद का मज़दूर

६९. मज़दूरों के सम्पर्क में

७०. उपवास

भाग-१३ : ख़ेडा सत्याग्रह

७१. ख़ेडा में सत्याग्रह

७२. 'प्याज़चोर'

७३. खेड़ा की लड़ाई का अन्त

भाग-१४ : रंगरूटों की भरती

७४. रंगरूटों की भरती

७५. मृत्यु-शय्या पर

भाग-१५ : रोलेट एक्ट और राजनीति में प्रवेश

७६. रोलेट एक्ट

७७. वह सप्ताह!

७८. 'पहाड़-जैसी भूल'

७९. नवजीवन और यंग ईन्डिया

८०. अमृतसर की महासभा (काँग्रेस)

भाग-१६ : खादी का जन्म

८१. खादी का जन्म

८२. पूर्णाहुति

भाग-१ : बचपन और युवावस्था

१. जन्म तथा माता-पिता

ऐसा मालूम होता है कि उत्तमचंद गाँधी अथवा मेरे दादा ओता गाँधी टेक वाले थे। राजनीतिक खटपट के कारण उन्हें पोरबंदर छोड़ना पड़ा था, और उन्होंने जूनागढ़ राज्य में आश्रय लिया था। उन्होंने नवाब साहब को बायें हाथ से सलाम किया। किसी ने इस प्रकट अविनय का कारण पूछा, तो जवाब मिला : "दाहिना हाथ तो पोरबंदर को अर्पित हो चुका है।"

ओता गांधी के एक के बाद दूसरा यों दो विवाह हुए थे। पहले विवाह से उनके चार लड़के थे और दूसरे से दो। इनमें पाँचवें करमचन्द अथवा कबा गांधी और आख़िरी तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाइयों ने बारी-बारी से पोरबंदर में दीवान का काम किया। कबा गांधी मेरे पिताजी थे।

कबा गांधी के भी एक के बाद एक यों चार विवाह हुए थे। अन्तिम पत्नी पुतलीबाई से एक कन्या और तीन पुत्र थे। उनमें अन्तिम मैं हूँ।

पिता कुटुम्ब-प्रेमी, सत्य-प्रिय, शूर, उदार किन्तु क्रोधी थे। राज्य के प्रति वे बहुत वफादार थे। एक बार प्रान्त के किसी साहब ने राजकोट के ठाकुरसाहब का अपमान किया था। पिताजी ने उसका विरोध किया। साहब नाराज़ हुए, कबा गांधी से माफ़ी माँगने के लिए कहा। उन्होंने माफ़ी माँगने से इनकार किया। फलस्वरूप कुछ घंटों के लिए उन्हें हवालात में भी रहना पड़ा। इस पर भी जब वे डिगे नहीं तो अंत में साहब ने उन्हें छोड़ देने का हुक्म दिया।

पिताजी ने धन बटोरने का लोभ कभी नहीं किया। इस कारण हम भाइयों के लिए वे बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजी की शिक्षा केवल अनुभव की थी। आजकल जिसे हम गुजराती की पाँचवीं किताब का ज्ञान कहते हैं, उतनी शिक्षा उन्हें मिली होगी। इतिहास-भूगोल का ज्ञान तो बिलकुल ही न था। फिर भी उनका व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दर्जे का था कि बारीक से बारीक सवालों को सुलझाने में अथवा हज़ार आदमियों से काम लेने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। धार्मिक शिक्षा

नहीं के बराबर थी, पर मन्दिरों में जाने से और कथा बगैरा सुनने से जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओं को सहज भाव से मिलता रहता है वह उनमें था। आख़िर के साल में एक विद्वान ब्राह्मण की सलाह से, जो परिवार के मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था और रोज़ पूजा के समय वे थोड़े-बहुत श्लोक ऊँचे स्वर से पाठ किया करते थे।

मेरे मन पर यह छाप रही है कि माता साध्वी स्त्री थीं। वे बहुत श्रद्धालु थीं। बिना पूजा-पाठ के कभी भोजन न करतीं। हमेशा हवेली (वैष्णव-मन्दिर) जातीं। जबसे मैंने होश संभाला तबसे मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास का व्रत तोड़ा हो। वे कठिन-से-कठिन व्रत शुरू करतीं और उन्हें निर्विध्न पूरा करतीं। लिए हुए व्रतों को बीमार होने पर भी कभी न छोड़तीं। ऐसे एक समय की मुझे याद है कि जब उन्होंने चान्द्रायण का व्रत लिया था। व्रत के दिनों में वे बीमार पड़ीं, पर व्रत नहीं छोड़ा। चातुर्मास में एक बार खाना तो उनके लिए सामान्य बात थी। लगातार दो-तीन उपवास तो उनके लिए मामूली बात थी। एक चातुर्मास में उन्होंने यह व्रत लिया था कि सूर्यनारायण के दर्शन करके ही भोजन करेंगी। उस चौमासे में हम बालक बादलों के सामने देखा करते कि कब सूरज के दर्शन हों और कब माँ भोजन करें। यह तो सब जानते हैं कि चौमासे में अकसर सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं कि जब हम सूरज को देखते और कहते, “माँ-माँ, सूरज दीखा;” और माँ उतावली होकर आतीं इतने में सूरज छिप जाता और माँ यह कहती हुई लौट जातीं कि “कोई बात नहीं, आज भाग्य में भोजन नहीं है;” और अपने काम में डूब जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबार की सब बातें वे जानती थीं। रनिवास में उनकी बुद्धि की अच्छी कदर होती थी। मैं बालक था। कभी-कभी माताजी मुझे भी अपने साथ दरबार गढ़ ले जाती थीं। 'बा-माँसाहब' के साथ होने वाली बातों में से कुछ मुझे अभी तक याद हैं।

इन माता-पिता के घर में संवत् १९२५ की भादों वदी बारस के दिन, अर्थात् २ अक्तूबर, १८६९ को पोरबंदर अथवा सुदामापुरी में मेरा जन्म हुआ।

२. पाठशाला में

मेरा बचपन पोरबंदर में ही बिता। किसी पाठशाला में मुझे भरती किया गया था ऐसा कुछ स्मरण में है। मुश्किल से कुछ पाडा (पहाडों को) सीख पाया था। उस समय अन्य बच्चों के साथ मैं भी मेहताजी को सिर्फ़ गाली देना ही सीखा था ऐसा स्मरण में है; और दूसरा कुछ भी याद नहीं है। इस बात से मेरा यह अनुमान है कि मेरी बुद्धि साधारण होगी तथा स्मरणशक्ति भी कमज़ोर होगी।

पोरबंदर से पिताजी राजस्थानिक कोर्ट के सदस्य बनकर राजकोट गये। उस समय मेरी उमर लगभग सात साल की होगी। मुझे राजकोट की ग्रामशाला में भरती किया गया। इस शाला के दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकों के नाम-धाम भी याद हैं। पोरबंदर की तरह यहाँ की पढ़ाई के बारे में भी जानने लायक कोई खास बात नहीं है। मैं मुश्किल से साधारण श्रेणी का विद्यार्थी रहा होऊँगा। ग्रामशाला से उपनगर की शाला में और वहाँ से हाईस्कूल में। यहाँ तक पहुँचने में मेरे बारहवाँ वर्ष बीत गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस बीच मैंने किसी भी समय शिक्षकों को धोखा दिया हो। न तब तक किसीको मित्र बनाने का स्मरण है। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। और किसीके भी साथी की संगत से भी दूर रहता था। मेरी किताबें तथा मेरे पाठ ही मेरे अकेले साथी थे। घंटी बजने के समय पहुँचता और पाठशाला के बन्द होते ही घर भागता। यह मेरी रोज़ की आदत। 'भागना' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि किसीसे बातें करना मुझे अच्छा न लगता था। साथ ही यह डर भी रहता था कि कोई मेरा मज़ाक उड़ायेगा तो?

हाईस्कूल के पहले ही वर्ष की, परीक्षा के समय की, एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभाग के इन्स्पेक्टर जाइल्स विद्यालय का निरीक्षण करने आये थे। उन्होंने पहली कक्षा के विद्यार्थियों की वर्तनी की चाँच करने के लिए पहली कक्षा के विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी के पाँच शब्द लिखाये। उनमें एक शब्द 'केटल' (kettle) था। मैंने उसके हिज्जे ग़लत लिखे थे। शिक्षक ने अपने बूट की नोक मारकर मुझे सावधान किया। लेकिन मैं क्यों सावधान होने लगा? मुझे यह ख़याल ही नहीं हो सका कि शिक्षक मुझे पास वाले लड़के की पट्टी देखकर हिज्जे सुधार लेने को कहते हैं। मैंने यह माना था कि शिक्षक तो यह देख रहे हैं कि हम एक-दूसरे की पट्टी में देखकर

चोरी न करें। सब लड़कों के पाँचों शब्द सही निकले और अकेला मैं बेवकूफ ठहरा! शिक्षक ने मुझे मेरी 'बेवकूफ़ी' बाद में समझायी; लेकिन मेरे मन पर उनके समझाने का कोई असर न हुआ। मैं दूसरे लड़कों की पट्टी में देखकर चोरी करना कभी सीख न सका।

इतने पर भी शिक्षक के प्रति मेरा विनय कभी कम न हुआ। बड़ों के दोष न देखने का गुण मुझ में स्वभाव से ही था। बाद में इन शिक्षक के दूसरे दोष भी मुझे मालूम हुए थे: फिर भी उनके प्रति मेरा आदर तो बना ही रहा। मैं यह जानता था कि बड़ों की आज्ञा का पालन करना चाहिए। वे जो कहें सो करना; करें उसके काजी न बनना।

इसी समय के दो और प्रसंग मुझे हमेशा याद रहे हैं। साधारणतः पाठशाला की पुस्तकों को छोड़कर और कुछ पढ़ने का मुझे शौक नहीं था। सबक याद करना चाहिए, उलाहना सहा नाही जाता, शिक्षक को धोखा देना ठीक नहीं, इसलिए मैं पाठ याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता, इससे अक्सर सबक कच्चा रह जाता। ऐसी हालत में दूसरी कोई चीज़ पढ़ने की इच्छा क्यों कर होती? किन्तु पिताजी की खरीदी हुई एक पुस्तक पर मेरी दृष्टि पड़ी। नाम था 'श्रवण-पितृभक्ति नाटक'[१]। मेरी इच्छा उसे पढ़ने की हुई और मैं उसे बड़े चाव के साथ पढ़ गया! उन्हीं दिनों शीशे में चित्र देखाने वाले भी घर-घर आते थे। उनके पास मैंने श्रवण का वह दृश्य भी देखा, जिसमें वह अपने माता-पिता को काँवर में बैठाकर यात्रा पर ले जाता है। दोनों चीज़ों का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। मन में इच्छा होती कि "मुझे भी श्रवण के समान बनना चाहिए।" श्रवण की मृत्यु पर उसके माता-पिता का विलाप मुझे आज भी याद है। उस हृदय को हिला देने वाले सूरों ने मेरे मम को झकझोर दिया। उस ललित छन्द को मैंने बाजे पर बजाना सीख लिया था। मुझे बाजा सीखने का शौक़ था और पिताजी ने एक बाजा दिला भी दिया था।

दूसरी घटना अन्य एक नाटक के संबंध में घटी थी।

इन्हीं दिनों कोई नाटक-कंपनी आयी थी और उसका नाटक देखने की इजाज़त मुझे मिली थी। 'हरिश्चन्द्र का आख्यान'[२] था। उस नाटक को देखते हुए मैं थकता न था। उसे बार-बार देखने की इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मन में मैंने उस नाटक को

सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्र के सपने आते। 'हरिश्चन्द्र की तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते?" यह धुन बनी रहती। यह प्रश्न मैं दिनरात अपने आपको पूछता ही रहता था सत्य का पालन करते रहना यह मेरा आदर्श बना। हरिश्चन्द्र की घटना सही होगी ऐसा मैंने मान लिया। हरिश्चन्द्र पर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं वैसी विपत्तियों को भोगना और सत्य का पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने यह मान लिया था कि उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचार में हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकों को पढ़ूँ, तो मेरी आँखों से आँसू बह निकलेंगे।

हाईस्कूल में मेरी गिनती मन्दबुद्धि विद्यार्थियों में नहीं थी। शिक्षकों का प्रेम मैं हमेशा ही पा सका था। हर साल माता-पिता के नाम स्कूल से विद्यार्थी की पढ़ाई और उसके आचरण के संबंध में प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें मेरे आचरण या अभ्यास के ख़राब होने की टीका कभी नाहीं हुई। दूसरी कक्षा के बाद मुझे इनाम भी मिले और पाँचवीं तथा छठी कक्षा में क्रमशः प्रतिमाँस चार और दस रुपयों की छात्रवृत्ति भी मिली थी। इसमें मेरी होशियारी की अपेक्षा भाग्य का अंश अधिक था। ये छात्रवृत्तियाँ सब विद्यार्थियों के लिए नहीं थीं, बल्कि सोरठवासियों में से सर्वप्रथम आने वालों के लिए थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियों की कक्षा में उस समय सोरठ प्रदेश के विद्यार्थी कितने हो सकते थे?

मेरा अपना ख़याल है कि मुझे अपनी होशियारी का कोई गर्व नहीं था। पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। पर अपने आचरण के विषय में मैं बहुत सजग था। आचरण में दोष आने पर मुझे रुलाई आ ही जाती थी। मेरे हाथों कोई भी ऐसा काम बने, जिससे शिक्षकों को मुझे डाँटना पड़े अथवा शिक्षकों का वैसा ख़याल बने, तो वह मेरे लिए असह्य हो जाता था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मार का दुःख नहीं था, पर मैं दण्ड का पात्र माना गया, इसका मुझे बड़ा दुःख रहा। मैं खूब रोया। यह प्रसंग पहली या दूसरी कक्षा का है। दूसरा एक प्रसंग सातवीं कक्षा का है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वे विद्यार्थी-प्रेमी थे, क्योंकि वे नियमों का पालन करवाते, व्यवस्थित रीति से काम करते और लेते

और अच्छी तरह पढ़ाते थे। उन्होंने उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इनसे अरुचि थी। इनके अनिवार्य बनने से पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबॉल में गया ही न था। न जाने में मेरा शरमीला स्वभाव ही एकमात्र कारण था। अब मैं देखता हूँ कि वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरा यह ग़लत ख़याल बना हुआ था कि शिक्षा के साथ कसरत का कोई सम्बन्ध नहीं है। बाद में मैं समझा कि विद्याभ्यास में व्यायाम का, अर्थात् शारीरिक शिक्षा का, मानसिक शिक्षा के समान ही स्थान होना चाहिए।

फिर भी मुझे कहना चाहिए कि कसरत में न जाने से मुझे नुकसान नहीं हुआ। उसका कारण यह रहा कि मैंने पुस्तकों में खुली हवा में घूमने जाने की सलाह पढ़ी थी और वह मुझे रुची थी। इसके कारण हाईस्कूल की उच्च कक्षा से ही मुझे हवाखोरी की आदत पड़ गयी थी। वह अन्त तक बनी रही। टहलना भी व्यायाम तो है ही, इससे मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।

अरुचि का दूसरा कारण था, पिताजी की सेवा करने की तीव्र इच्छा। स्कूल की छुट्टी होते ही मैं सीधा घर पहुँचता और सेवा में लग जाता। जब कसरत अनिवार्य हुई, तो इस सेवा में बाधा पड़ी। मैंने बिनती की कि पिताजी की सेवा के लिए मुझे कसरत से छुट्टी दी जाय। पर गीमी साहब छुट्टी क्यों देने लगे? एक शनिवार के दिन सुबह का स्कूल था। शाम को चार बजे कसरत के लिए जाना था। मेरे पास घड़ी नहीं थी। आसमान बादलों से घिरा था, इसलिए समय का कोई अन्दाज नहीं रहा। मैं बादलों से धोखा खा गया। जब कसरत के लिए पहुँचा, तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन गीमी साहब ने हाज़िरी देखी, तो मैं गैर-हाज़िर पाया गया। मुझसे कारण पूछा गया। मैंने सही-सही कारण बता दिया। उन्होंने उसे सच नहीं माना और मुझ पर एक या दो आने (ठीक रकम का स्मरण नहीं है) का जुर्माना किया। मैं झूठा ठहरा! मुझे बहुत दुःख हुआ। कैसे सिद्ध करूँ कि 'मैं झूठा नहीं हूँ?' कोई उपाय न रहा। मन मसोसकर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलने वाले और सच्चा काम करने वाले को गाफ़िल भी नहीं रहना चाहिए। अपनी पढ़ाई के समय में इस तरह की मेरी यह पहली और आख़िरी गफ़लत थी। मुझे धुँधली-सी याद है कि आख़िर मैं वह जुर्माना माफ करा सका था।

मैंने कसरत से तो मुक्ति प्राप्त कर ही ली। पिताजी ने हेडमास्टर को पत्र लिखा कि स्कूल के समय के बाद वे मेरी उपस्थिति का उपयोग अपनी सेवा के लिए करना चाहते हैं। इस कारण मुझे मुक्ति मिल गयी।

शरीर को व्यायाम न देने की गलती के लिए तो शायद मुझे सज़ा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक ग़लती की सज़ा मैं आज तक भोग रहा हूँ। मैं यही जानता कि पढ़ाई में सुन्दर लेखन आवश्यक नहीं है यह ग़लत ख़याल मुझे कैसे हो गया था!

इस समय के विद्याभ्यास के दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं। ब्याह के कारण जो एक साल नष्ट हुआ था, उसे बचा लेने की बात दूसरी कक्षा के शिक्षक ने मेरे सामने रखी थी। उन दिनों परिश्रमी विद्यार्थी को इसके लिए अनुमति मिलती थी। इस कारण तीसरी कक्षा में मैं छह महीने रहा और गरमी की छुट्टियों से पहले होने वाली परीक्षा के बाद मुझे चौथी कक्षा में बैठाया गया। इस कक्षा से थोड़ी पढ़ाई अंग्रेज़ी माध्यम से होने लगती थी। मेरी समझ में कुछ न आता था। भूमिति भी चौथी कक्षा से शुरू होती थी। मैं उसमें पिछड़ा हुआ था ही, तिस पर मैं उसे बिलकुल समझ नहीं पाता था। भूमिति-शिक्षक अच्छी तरह समझाकर पढ़ाते थे, पर मैं कुछ समझ ही न सकता था। मैं अकसर निराश हो जाता। कभी-कभी यह भी सोचता कि एक साल में दो कक्षायें करने का विचार छोड़कर मैं तीसरी कक्षा में लौट जाऊँ। पर ऐसा करने में मेरी लाज जाती, और जिन शिक्षक ने मेरी लगन पर भरोसा करके मुझे चढ़ाने की सिफ़ारिश की थी उनकी भी लाज जाती। दोहरी लाज जाने का भय। इस भय से नीचे जाने का विचार तो छोड़ ही दिया। जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिड के तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरल से सरल विषय है। जिसमें केवल बुद्धि का सीधा और सरल प्रयोग ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिए सदा ही एक सरल और सरस विषय बना रहा।

भूमिति की अपेक्षा संस्कृत ने मुझे अधिक परेशान किया। भूमिति में रटने की कोई बात थी ही नहीं, जब कि मेरी दृष्टि से संस्कृत में तो सब रटना ही होता था। यह विषय भी चौथी कक्षा में शुरू हुआ था। छठी कक्षा में मैं हारा। संस्कृत-शिक्षक बहुत कड़े मिज़ाज के थे। विद्यार्थियों को

अधिक सिखाने का लोभ रखते थे। संस्कृत वर्ग और फारसी वर्ग के बीच एक प्रकार की होड़ रहती थी। फारसी सिखाने वाले मौलवी नरम मिज़ाज के थे। विद्यार्थी आपस में बात करते कि फारसी तो बहुत आसान है और फारसी-शिक्षक बहुत भले हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं, उतने से वे संतोष कर लेते हैं। मैं भी आसान होने की बात सुनकर ललचाया और एक दिन फारसी के वर्ग में जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षक को दु:ख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा: "यह तो समझ कि तू किन का लड़का है। क्या तू अपने धर्म की भाषा नहीं सीखेगा ? तुझे जो कठिनाई हो, सो मुझे बता। मैं तो सब विद्यार्थियों को बढ़िया संस्कृत सिखाना चाहता हूँ। आगे चलकर उसमें रस के घूँट पीने को मिलेंगे। तुझे यों हारना नहीं चाहिए। तू फिर से मेरे वर्ग में बैठ।" मैं शरमाया। शिक्षक के प्रेम की अवगणना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर पंड्या का उपकार मानती है। क्योंकि जितनी संस्कृत मैं उस समय सीखा उतनी भी न सीखा होता, तो आज संस्कृत शास्त्रों में मैं जितना रस ले सकता हूँ उतना न ले पाता। मुझे तो इस बात का पश्चात्ताप होता है कि मैं संस्कृत अधिक न सीख सका। क्योंकि बाद में मैं समझा कि किसी भी हिन्दू बालक को संस्कृत का अच्छा अभ्यास किये बिना रहना ही न चाहिए।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्ष की उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रम में मातृभाषा के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी का स्थान होना चाहिए। भाषाओं की इस संख्या से किसीको डरना नहीं चाहिए। भाषा पद्धतिपूर्वक सिखाई जाये और सब विषयों को अंग्रेज़ी के माध्यम से सीखने-सोचने का बोझ हम पर न हो, तो ऊपर की भाषायें सीखना सिर्फ़ बोझरूप न होगा, बल्कि उसमें बहुत ही आनन्द आयेगा। और जो व्यक्ति एक भाषा को शास्त्रीय पद्धति से सीख लेता है, उसके लिए दूसरी का ज्ञान सुलभ हो जाता है।

---

१. युवा तपस्वी श्रवण अपने अंध मातापिता की सेवा में रत रहता था। एक समय उसने अपनी काँवर में बैठाकर यात्रा करवा रहा था तब रास्ते में राम के पिता दशरथ ने अनजाने में उसकी हत्या कर डाली थी।

२. हिन्दु धर्मग्रंथों के मुताबिक हरिश्चन्द्र सूर्यवंशी था। अपने दानेश्वरी स्वभाव के लिए, प्रामाणिकता तथा दृढ सत्यप्रियता के कारण ख्यातनाम था। विश्वामित्र ने राजा की कसौटी करना चाहा और कठीण कसौटीयाँ द्वारा उसकी परीक्षा ली। यहाँ तक कि अपनी पत्नी को डाकिन कही और उसकी हत्या करवा डाली। राजा असाधारण हिंमत तथा सत्यपालन से सारी कसौटियाँ को पार कर गये।

३. बाल-विवाह

यह लिखते हुए मन अकुलाता है कि तेरह साल की उमर में मेरा विवाह हुआ था। आज मेरी आँखों के सामने बारह-तेरह वर्ष के बालक मौजूद हैं। उन्हें देखता हूँ और अपने विवाह का स्मरण करता हूँ, तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और इन बालकों को मेरी स्थिति में से बचने के लिए बधाई देने की इच्छा होती है। तेरहवें वर्ष में हुए अपने विवाह के मूर्खतापूर्ण समर्थन में मुझे एक भी नैतिक दलील सूझ नहीं सकती।

उस समय मेरे मन में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, बाजे बजने, वर-यात्रा के समय घोड़े पर चढ़ने, बढ़िया भोजन मिलने, एक नई बालिका के साथ विनोद करने आदि की अभिलाषा के सिवा दूसरी कोई खास बात रही हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है।

हम दोनों परस्पर एक दूसरे को आहिस्ता आहिस्ता पहचानने लगे और बिना संकोच बोलने लगे। हम दोनों हमवयस्क हैं, लेकिन मैंने तो देखते ही देखते पतित्व का अधिकार जमाना शुरू कर दिया।

यह बात तो थी ही नहीं कि मैं अपनी पत्नी के लिए आशंका लाऊँ, लेकिन ईर्षा कभी कोई कारण देखती है; भला?

मुझे हमेशा यह जानना चाहिए कि मेरी स्त्री कहाँ जाती है। इसलिए मेरी अनुमति के बिना वह कहीं जा ही नहीं सकती। यह चीज़ हमारे बीच दु:खद झगड़े की जड़ बन गयी। बिना अनुमति के कहीं भी न जा सकना तो एक तरह की क़ैद ही हुई। पर कस्तूरबाई ऐसी क़ैद सहन करने वाली थी ही नहीं। जहाँ इच्छा होती वहाँ मुझसे बिना पूछे ज़रूर जाती। मैं ज्यों-ज्यों दबाव डालता, त्यों-त्यों वह अधिक स्वतंत्रता से काम लेती, और त्यों-त्यों मैं अधिक चिढ़ता। इससे हम बाल पति पत्नी ऐसे बालकों के बीच बोलचाल का बन्द होना एक मामूली चीज़ बन गयी। कस्तूरबाई ने जो स्वतंत्रता बरती, उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। जिस बालिका के मन में पाप नहीं है, वह देव-दर्शन के लिए जाने पर या किसीसे मिलने जाने पर दबाव क्यों सहन करे? अगर मैं उस पर दबाव डालता

हूँ, तो वह मुझ पर क्यों न डाले? – यह तो अब समझ में आ रहा है। उस समय तो मुझे अपना पतित्व सिद्ध करना था।

लेकिन पाठक यह न माने कि हमारे इस गृह-जीवन में कहीं भी मिठास नहीं थी। मेरी वक्रता की जड़ प्रेम में थी। मैं अपनी पत्नी को आदर्श स्त्री बनाना चाहता था। मेरी यह भावना थी कि वह स्वच्छ बने, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े, और हम दोनों एक-दूसरे में ओतप्रोत रहें। ऐसी भावना थी।

कस्तूरबाई में यह भावना थी या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। वह निरक्षर थी। स्वभाव से सीधी, स्वतंत्र, मेहनती और मेरे साथ तो कम बोलनेवाली थी। उसे अपने अज्ञान का असन्तोष न था। अपने बचपन में मैंने कभी उसकी यह इच्छा नहीं जानी कि मेरी तरह वह भी पढ़ सके तो अच्छा हो।

४. दुःखद प्रसंग-मैत्री

मैं कह चुका हूँ कि हाईस्कूल में मेरे थोड़े ही विश्वासपात्र मित्र थे। कहा जा सकता है कि ऐसी मित्रता रखने वाले दो मित्र अलग-अलग समय में रहे। एक का सम्बन्ध लम्बे समय तक नहीं टिका, यद्यपि मैंने उस मित्र को छोड़ा नहीं था। मैंने दूसरे की सोहबत की, इसलिए पहले ने मुझे छोड़ दिया। दूसरी सोहबत मेरे जीवन का एक दुःखद प्रकरण है। यह सोहबत बहुत वर्षों तक रही। इस सोहबत को निभाने में मेरी दृष्टि सुधारक की थी। इन भाई की पहली मित्रता मेरे मझले भाई के साथ थी। वे मेरे भाई की कक्षा में थे। मैं देख सका था कि उनमें कई दोष हैं। पर मैंने उन्हें वफादार मान लिया था। मेरी माताजी, मेरे जेठे भाई और मेरी धर्मपत्नी तीनों को यह सोहबत कड़वी लगती थी। पत्नी की चेतावनी को तो मैं अभिमानी पति क्यों मानने लगा? माता की आज्ञा का उल्लंघन मैं करता ही न था। बड़े भाई की बात मैं हमेशा सुनता था। पर उन्हें मैंने यह कहकर शान्त किया : "उसके जो दोष आप बताते हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। उसके गुण तो आप जानते ही नहीं। वह मुझे ग़लत रास्ते नहीं ले जायेगा, क्योंकि उसके साथ मेरा सम्बन्ध उसे सुधारने के लिए ही है। मुझे यह विश्वास है कि अगर वह सुधर जाये, तो बहुत अच्छा आदमी निकलेगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे विषय में निर्भय रहें।" मैं नहीं मानता कि मेरी इस बात से उन्हें संतोष हुआ, पर उन्होंने मुझ पर विश्वास किया और मुझे मेरे रास्ते जाने दिया।

बाद में मैं देख सका कि मेरा अनुमान ठीक नहीं था। सुधार करने के लिए भी मनुष्य को गहरे पानी में नहीं पैठना चाहिए। जिसे सुधारना है उसके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रता में अद्वैत-भाव होता है। संसार में ऐसी मित्रता क्वचित् ही पायी जाती है। मित्रता समान गुण वालों के बीच शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकते। अतएव मित्रता में सुधार के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। मेरी राय है कि घनिष्ठ मित्रता अनिष्ट है, क्योंकि मनुष्य दोषों को जल्दी ग्रहण करता है। जो आत्मा की, ईश्वर की मित्रता चाहता है, उसे एकाकी रहना चाहिए, अथवा समूचे संसार के साथ मित्रता रखनी चाहिए। ऊपर का विचार योग्य हो अथवा अयोग्य, घनिष्ठ मित्रता बढ़ाने का मेरा प्रयोग निष्फल रहा।

जिन दिनों मैं इन मित्र के संपर्क में आया, उन दिनों राजकोट में 'सुधारपंथ' का ज़ोर था। मुझे इन मित्र ने बताया कि कई हिन्दू शिक्षक छिपेछिपे माँसाहार और मद्यपान करते हैं। उन्होंने राजकोट के दूसरे प्रसिद्ध गृहस्थों के नाम भी दिये। मेरे सामने हाईस्कूल में कुछ विद्यार्थियों के नाम भी आये। मुझे तो आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी। कारण पूछने पर यह दलील दी गयी : "हम माँसाहार नहीं करते, इसलिए प्रजा के रूप में हम निर्वीर्य हैं। अंग्रेज़ हम पर इसीलिए राज्य करते हैं कि वे माँसाहारी हैं । मैं कितना मज़बूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ, सो तो तुम जानते ही हो। इसका कारण भी माँसाहार ही है। माँसाहारी को फोड़े नहीं होते, होने पर झट अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षक माँस खाते हैं, इतने प्रसिद्ध व्यक्ति खाते हैं, सो क्या बिना समझे खाते हैं? तुम्हें भी खाना चाहिए। खाकर देखो तो मालूम होगा कि तुम में कितनी ताकत आ जाती है।"

ये सब दलीलें किसी एक दिन नहीं दी गयी थीं। अनेक उदाहरणों से सजाकर इस तरह की दलीलें कई बार दी गयीं। यह उसका सारांश है। मेरे मझले भाई तो भ्रष्ट हो चुके थे। उन्होंने इन दलीलों की पुष्टि की। अपने भाई की और इन मित्र की तुलना में मैं तो बहुत दुबला था। उनके शरीर अधिक गठीले थे। उनका शरीर-बल मुझसे कहीं ज़्यादा था। वे हिम्मतवर थे। इन मित्र के पराक्रम मुझे मुग्ध कर देते थे। वे मनचाहा दौड़ सकते थे। उनकी गति बहुत अच्छी थी। वे खूब लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहन करने की शक्ति भी उनमें खूब थी। अपनी इस शक्ति का प्रदर्शन भी वे मेंरे सामने समय-समय पर करते थे। जो शक्ति अपने में नहीं होती, उसे दूसरे में देखकर मनुष्य को आश्चर्य होता ही है। वैसा मुझे भी हुआ। आश्चर्य में से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदने की शक्ति नहीं के बराबर थी। मैं सोचा करता कि मैं भी इन मित्र की तरह बलवान बन जाऊँ, तो कितना अच्छा हो!

इसके अलावा मैं बहुत डरपोक था। चोर, भूत, साँप आदि के डर से घिरा रहता था। रात कहीं अकंले जाने की हिम्मत नहीं थी। अँधेरे में तो कहीं जाता ही न था। दीये के बिना सोना लगभग असंभव था। पास में सोयी हुई और अब कुछ सयानी बनी हुई पत्नी से भी अपने इस डर की बात मैं कैसे करता? मैं यह समझ चुका था कि वह मुझसे ज़्यादा हिम्मत वाली है इतना मैं

समझ गया था। और इसलिए मैं शरमाता था। साँप-भूत आदि से डरना तो वह जानती ही न थी। अँधेरे में वह अकेली चली जाती थी। मेरे ये मित्र मेरी इन कमजोरियों को जानते थे। मुझसे कहा करते थे कि वे तो जिन्दा साँपों को भी हाथ से पकड़ लेते हैं। चोर से कभी नहीं डरते। भूत को तो मानते ही नहीं। उन्होंने मुझे जँचाया कि यह सारा प्रताप माँसाहार का है।

इन्हीं दिनों नर्मद का नीचे लिखा पद स्कूलों में गाया जाता था :

अंग्रेजो राज्य करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो पांचसेंने.

इन सब बातों का मेरे मन पर पूरा-पूरा असर हुआ। मैं पिघला। मैं यह मानने लगा कि माँसाहार अच्छी चीज़ है। उससे मैं बलवान और साहसी बनूँगा। समूचा देश माँसाहार करे, तो अंग्रेज़ों को हराया जा सकता है।

माँसाहार शुरू करने का दिन निश्चित हुआ।

मैं माता-पिता का परम भक्त था। वे चुस्त वैष्णव; अत: माँसाहार छिपके छिपके करना था। मैं मानता था कि वे मेरे माँसाहार की बात जानेंगे, तो बिना मौत के उनकी तत्काल मृत्यु हो जायेगी। जाने-अनजाने मैं सत्य का सेवक तो था ही। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि माँसाहार करने में माता-पिता को धोखा देना होगा। यह ज्ञान उस समय मुझे नहीं था; ऐसा तो मैं नहीं कह सकता!

लेकिन मुझे तो सुधार करना था। माँसाहार का शौक़ नहीं था। यह सोचकर कि उसमें स्वाद है, मैं माँसाहार शुरू नहीं कर रहा था। मुझे तो बलवान और साहसी बनना था, दूसरों को वैसा बनने के लिए न्योतना था और फिर अंग्रेज़ों को हराकर हिन्दुस्तान को स्वतंत्र करना था। *स्वराज्य* शब्द उस समय तक मैंने सुना नहीं था। सुधार के इस जोश में होश भूल गया लेकिन स्वतंत्रता का अर्थ मैं अच्छी तरह समझता था।

माता-पिता से कार्य को छुपाना इसमें सत्य का कोई ह्रास नहीं होता। निश्चित दिन आया। वे चुस्त वैष्णव अतः माँसाहार चुपके चुपके से करना था। अपनी स्थिति का सम्पूर्ण वर्णन करना मेरे लिए कठिन है। एक तरफ सुधार का उत्साह था, जीवन में महत्त्व का परिवर्तन करने का कुतूहल था, और दूसरी तरफ चोर की तरह छिपकर काम करने की शरम थी। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसमें मुख्य वस्तु क्या थी। हम नदी की तरफ एकान्त की खोज में चले। दूर जाकर ऐसा कोना खोजा, जहाँ कोई देख न सके, और वहाँ मैंने कभी न देखी हुई वस्तु — माँस – देखी! साथ में भटियारखाने की ड़ाल-रोटी थी। दोनों में से एक भी चीज़ मुझे भाती नहीं थी। बकरे का माँस चमड़े जैसा लगता था। खाना असम्भव हो गया। मुझे कै होने लगी! खाना छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बहुत बुरी बीती। नींद नहीं आई। सपने में ऐसा भास होता था, मानो शरीर के अन्दर बकरा जिन्दा हो और रो रहा हो। मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मुझे तो माँसाहार करना ही है, हिम्मत नहीं हारनी है! मित्र भी हार खाने वाले नहीं थे। उन्होंने अब माँस को अलग-अलग ढंग से पकाने, सजाने और ढँकने का प्रबन्ध किया। नदीकिनारे ले जाने के बदले किसी बावरची के साथ बातचीत करके छिपेछिपे एक सरकारी डाक-बंगले पर ले जाने की व्यवस्था की और वहाँ कुर्सी, मेज़ बगैरा सामान के प्रलोभन में मुझे डाला। इसका असर हुआ। ड़ाल-रोटी की नफ़रत कुछ कम पड़ी, बकरे की माया छूटी और माँस का तो कह नहीं सकता, पर माँस वाले पदार्थों में स्वाद आने लगा। इस तरह एक साल बीता होगा और इस बीच पाँच-छह बार माँस खाने को मिला होगा, क्योंकि डाक-बंगला सदा सुलभ न रहता था और माँस के स्वादिष्ट माने जाने वाले बढ़िया पदार्थ भी सदा तैयार नहीं हो सकते थे। 'सुधारा' के लिए मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी, इसलिए मैं कुछ दे नहीं सकता था। इस खर्च की व्यवस्था उन मित्रों को ही करनी होती थी। उन्होंने कहाँ से, कैसे व्यवस्था की, इसका मुझे आज तक पता नहीं है। उनका इरादा तो मुझे माँस की आदत लगा देने का – भ्रष्ट करने का – था, इसलिए पैसा वे अपने पास से खर्च करते थे। पर उनके पास भी कोई अखूट खज़ाना नहीं था, इसलिए ऐसी दावतें कभी-कभी ही हो सकती थीं।

जब-जब ऐसा भोजन मिलता, तब-तब घर पर तो भोजन हो ही नहीं सकता था। जब माताजी भोजन के लिए बुलातीं, तब 'आज भूख नहीं है, खाना हज़म नहीं हुआ है' ऐसे बहाने बनाने पड़ते थे। ऐसा कहते समय हर बार मुझे भारी आघात पहुँचता था। यह झूठ, सो भी माँ के सामने! और अगर माता-पिता को पता चले कि लड़के माँसाहारी हो गये हैं, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी । ये विचार मेरे दिल को कुरेदते रहते थे, इसलिए मैंने निश्चय किया: 'माँस खाना आवश्यक है; उसका प्रचार करके हम हिन्दुस्तान को सुधारेंगे; पर माता-पिता को धोखा देना और झूठ बोलना तो माँस न खाने से भी बुरा है। इसलिए माता-पिता के जीते-जी माँस नहीं खाना चाहिए। उनकी मृत्यु के बाद, स्वतंत्र होने पर खुले तौर से माँस खाना चाहिए और जब तक वह समय न आये, तब तक माँसाहार का त्याग करना चाहिए।' अपना यह निश्चय मैंने मित्र को जता दिया और तबसे माँसाहार जो छूटा, सो सदा के लिए छूट गया। माता-पिता कभी यह जान ही न पाये कि उनके दो पुत्र माँसाहार कर चुके हैं।

माता-पिता को धोखा न देने के शुभ विचार से मैंने माँसाहार छोड़ा, पर वह मित्रता नहीं छोड़ी। मैं मित्र को सुधारने चला था, पर खुद ही गिरा, और गिरावट का मुझे होश तक न रहा।

इसी सोहबत के कारण मैं पत्नी की तरफ की वफ़ादारी भी चूक जाता तथा व्यभिचार में भी फँस जाता। एक बार मेरे ये मित्र मुझे वेश्याओं की बस्ती में ले गये। वहाँ मुझे योग्य सूचनायें देकर एक स्त्री के मकान में भेजा। हिसाब हो चुका था। उस कोठरी में मैं तो बिलकुल अंधा बन गया। मुझे बोलने का भी होश न रहा। पर औरत ने गुस्से में आकर मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनायी और दरवाजे की राह दिखायी।

उस समय तो मुझे जान पड़ा कि मेरी मर्दानगी को बट्टा लगा; और मैंने चाहा कि धरती जगह दे, तो मैं उसमें समा जाऊँ। पर इस तरह बचने के लिए मैंने सदा ही भगवान का आभार माना है।

हम दम्पती के बीच जो कुछ मतभेद पैदा होता या कलह होता, उसका एक कारण यह मित्रता भी थी। मैं जैसा प्रेमी वैसा ही वहमी पति था। मेरे वहम को बढ़ानेवाली यह मित्रता थी,

क्योंकि मित्र की सच्चाई के बारे में मुझे कोई सन्देह था ही नहीं। इन मित्र की बातों में आकर मैंने अपनी धर्मपत्नी को कितने ही कष्ट पहुँचाये हैं। इस हिंसा के लिए मैंने अपने को कभी माफ़ नहीं किया है। ऐसे दुःख हिन्दू स्त्री ही सहन करती है, और इस कारण मैंने स्त्री को सदा सहनशीलता की मूर्ति के रूप में देखा है। नौकर पर झूठा शक किया जाय तो वह नौकरी छोड़ देता है, पुत्र पर ऐसा शक हो तो वह पिता का घर छोड़ देता है, मित्रों के बीच शक पैदा हो तो मित्रता टूट जाती है, स्त्री को पति पर शक हो तो वह मन मसोस कर बैठी रहती है, पर अगर पति पत्नी पर शक करे, तो पत्नी बेचारी का तो भाग्य ही फूट जाता है। वह कहाँ जाये ? हिन्दू स्त्री अदालत में जाकर बंधी हुई गाँठ को कटवा भी नहीं सकती, इस तरह का न्याय मैंने दिया, इसके दुःख को मैं कभी नहीं भूल सकता। मेरी धर्मपत्नी को इस तरह की स्थिति में रखने के लिए मैं अपने आपको कभी भी माफ़ नहीं कर सकता या नहीं भूल सकता हूँ। इस सन्देह की जड़ तो तभी कटी जब मुझे अहिंसा का सूक्ष्म ज्ञान हुआ, यानी जब मैं ब्रह्मचर्य की महिमा को समझा और यह समझा कि पत्नी पति की दासी नहीं, पर उसकी सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरे के सुख-दुःख के समान साझेदार हैं, और भला-बुरा करने की जितनी स्वतंत्रता पति को है उतनी ही पत्नी को है। सन्देह के उस काल को जब मैं याद करता हूँ, तो मुझे अपनी मुर्खता और विषयान्ध निर्दयता पर क्रोध आता है और मित्रता-विषयक अपनी मूर्च्छा पर दया आती है।

५. चोरी और प्रायश्चित्त

माँसाहार के समय के और उससे पहले के कुछ दोषों का वर्णन अभी रह गया है। ये दोष विवाह से पहले के अथवा उसके तुरन्त बाद के हैं।

अपने एक रिश्तेदार के साथ मुझे बीड़ी पीने का शौक़ लगा। हम दोनों में से किसीका यह ख़याल तो नहीं था कि बीड़ी पीने में कोई फायदा है, अथवा उसकी गन्ध में आनन्द है। पर हमें लगा कि सिर्फ़ धुआँ उड़ाने में ही कुछ मज़ा है। मेरे काकाजी को बीड़ी पीने की आदत थी। उन्हें और दूसरों को धुआँ उड़ाते देखकर हमें भी बीड़ी फूँकने की इच्छा हुई। गाँठ में पैसे तो थे नहीं, इसलिए काकाजी पीने के बाद बीड़ी के जो 'ठूँठ' फेंक देते, हमने उन्हें चुराना शुरू किया ।

पर बीड़ी के ये ठूँठ हर समय मिल नहीं सकते थे, और उनमें से बहुत धुआँ भी नहीं निकलता था। इसलिए नौकर की जेब में पड़े दो-चार पैसों में से हमने एकाध पैसा चुराने की आदत डाली, और हम बीड़ी खरीदने लगे। पर सवाल यह पैदा हुआ कि उसे संभाल कर रखें कहाँ। हम जानते थे कि बड़ों के देखते तो बीड़ी पी ही नहीं सकते। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुराकर कुछ हफ़्ते काम चलाया। इस बीच सुना कि एक प्रकार का पौधा होता है (उसका नाम तो मैं भूल गया हूँ), जिसके डंठल बीड़ी की तरह जलते हैं और फूँके जा सकते हैं। हमने उन्हें प्राप्त किया और फूँकने लगे!

पर हमें संतोष नहीं हुआ। अपनी पराधीनता हमें अखरने लगी। हमें दुःख इस बात का था कि बड़ों की आज्ञा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। हम ऊब गये और हमने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया!

पर आत्महत्या कैसे करें? ज़हर कौन दे? हमने सुना कि धतूरे के बीज खाने से मृत्यु होती है। हम जंगल में जाकर बीज ले आये। शाम का समय तय किया। केदारनाथजी के मन्दिर की दीपमाला में घी चढाया, दर्शन किये और एकान्त खोज लिया। पर ज़हर खाने की हिम्मत न हुई। अगर तुरन्त ही मृत्यु न हुई तो क्या होगा? मरने से लाभ क्या? क्यों न पराधीनता ही सह ली जाये? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खाने की हिम्मत ही न पड़ी। दोनों मौत से डरे और यह निश्चय

किया कि रामजी के मन्दिर में जाकर दर्शन करके शान्त हो जाएँ और आत्महत्या की बात भूल जाएँ।

मेरी समझ में आया कि आत्महत्या का विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं। इसलिए कोई आत्महत्या करने की धमकी देता है, तो मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहना ठीक होगा कि कोई असर होता ही नहीं।

आत्महत्या के इस विचार का परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीने की और नौकर के पैसे चुराकर बीड़ी खरीदने और फूँकने की आदत भूल गये। फिर बड़ेपन में बीड़ी पीने की कभी इच्छा नहीं हुई। मैंने हमेशा यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक है। दुनिया में बीड़ी का इतना ज़बरदस्त शौक़ क्यों है, इसे मैं कभी समझ नहीं सका हूँ । रेलगाड़ी के जिस ड़िबे में बहुत बीड़ी पी जाती है, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है, और उसके धुएँ से मेरा दम घुटने लगता है।

उपर के दोष के अलावा मुझसे चोरी का दूसरा जो दोष हुआ, उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँ। बीड़ी के दोष के समय मेरी उमर बारह-लेरह साल की रही होगी; शायद इससे कम भी हो। दूसरी चोरी के समय मेरी उमर पन्द्रह साल की रही होगी। यह चोरी मेरे माँसाहारी भाई के सोने के कड़े के टुकड़े की थी। उन पर मामूली-सा, लगभग पचीस रूपये का, क़र्ज़ हो गया था। मेरे भाई के हाथ में सोने का ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काट लेना मुश्किल न था।

कड़ा कटा। क़र्ज़ अदा हुआ। पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूँगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजी के सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिए। पर जीभ न खुली। पिताजी स्वयं मुझे पीटेंगे, इसका डर तो था ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी हम में से किसी भाई को पीटा हो। पर खुद दुःखी होंगे, मैंने सोचा कि यह जोखिम उठाकर भी दोष क़बूल कर ही लेना चाहिए, उसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

आख़िर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार किया जाये और क्षमा माँग ली जाये। मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोंहाथ दी। चिट्ठी में सारा दोष स्वीकार किया और सज़ा चाही। आग्रहपूर्वक बिनती की कि वे अपने को दुःख में न डालें, और भविष्य में फिर ऐसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा की।

मैंने काँपते हाथों चिट्ठी पिताजी के हाथ में दी। मैं उनके तख्त के सामने बैठ गया। उन दिनों वे भगन्दर की बीमारी से पीड़ित थे, इस कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। खटिया के बदले लकड़ी का तख्त काम में लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आँखों से मोती की बुँदें टपकीं। चिट्ठी भीग गयी। उन्होंने क्षण भर के लिए आँखें मूँदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़ने के लिए उठ बैठे थे, सो वापस लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजी का दु:ख समझ सका। अगर मैं चित्रकार होता, तो वह चित्र आज सम्पूर्णता से खींच सकता। आज भी वह मेरी आँखों के सामने इतना स्पष्ट है।

मोती की बूँदों के उस प्रेमबाण ने मुझे बेध डाला। मैं शुद्ध बना! इस प्रेम को तो अनुभवी ही जान सकता है।

रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे.[३]

मेरे लिए यह अहिंसा का पदार्थपाठ था। उस समय तो मैंने इसमें पिता के प्रेम के सिवा और कुछ नहीं देखा, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसा के नाम से पहचान सकता हूँ। ऐसी अहिंसा के व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्श से कौन बच सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसा की शक्ति की थाह लेना असम्भव है।

इस प्रकार की शान्त क्षमा पिताजी के स्वभाव के विरुद्ध थी। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कटु वचन कहेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। पर उन्होंने इतनी अपार शान्ति जो धारण की, मेरे विचार में उसका कारण अपराध की सरल स्वीकृति थी। जो मनुष्य अधिकारी के सम्मुख स्वेच्छा से और निष्कपट भाव से अपना अपराध स्वीकार कर लेता है और फिर कभी वैसा अपराध न करने की प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। ।

मैं जानता हूँ कि मेरी इस स्वीकृति से पिताजी मेरे विषय में निर्भय बने और उनका महान प्रेम और भी बढ़ गया। ।

---

३. राम की भक्ति का बाण जिसे लगा हो वही जान सकता है।

६. पिताजी की बीमारी, मृत्यु और शरम

उस समय मैं सोलह वर्ष का था। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिताजी भगन्दर की बीमारी के कारण बिलकुल शय्यावश थे। उनकी सेवा में अधिकतर माताजी, घर का एक पुराना नौकर और मैं रहते थे। मेरे जिम्मे 'नर्स' का काम था। उनका घाव धोना, उसमें दवा डालना, मरहम लगाने के समय मरहम लगाना, उन्हें दवा पिलाना और जब घर पर दवा तैयार करनी हो तो तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात हमेशा उनके पैर दबाना और इजाज़त देने पर अथवा उनके सो जाने पर सोना यह मेरा नियम था। मुझे यह सेवा बहुत प्रिय थी। मुझे स्मरण नहीं है कि इसमें किसी भी दिन चूका होऊँ। खाने-पीने के बाद का मेरा समय स्कूल में अथवा पिताजी की सेवा में ही बीतता था। जिस दिन उनकी आज्ञा मिलती और उनकी तबीयत ठीक रहती, उस दिन शाम को टहलने जाता था।

अवसान की घोर रात्रि समीप आई। रात के साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजी ने मुझसे कहा: “जा, अब मैं बैठूँगा।” मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृह में पहुँचा। पत्नी तो बेचारी गहरी नींद में थी। पर मैं सोने कैसे देता? मैंने उसे जगाया। पाँच-सात मिनट बीते होंगे, नौकर ने आकर किवाड़ खटखटाया। “उठो, बापू बहुत बीमार हैं।” मैं जानता था कि वे बहुत बीमार तो थे ही, इसलिए यहाँ 'बहुत बीमार' का विशेष अर्थ समझ गया। एकदम बिस्तर से कूद पड़ा।

“कह तो सही, बात क्या है?”

जवाब मिला, “बापू गुज़र गये!”

मेरा पछताना किस काम आता? मैं बहुत शरमाया। बहुत दुःखी हुआ। दौड़कर पिताजी के कमरे में पहुँचा। बात मेरी समझ में आयी कि अगर मैं विषयान्ध न होता, तो इस अन्तिम घड़ी में यह वियोग मुझे नसीब न होता।

इस काले दाग़ को मैं आज तक मिटा नहीं सका, भूल नहीं सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिता के प्रति मेरी अपार भक्ति थी, उसके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकता था, तथापि सेवा के समय भी भेरा मन विषय को छोड़ नहीं सकता था। यह उस सेवा में रही हुई अक्षम्य त्रुटि थी। इससे मुक्त होने में मुझे बहुत समय लगा और मुक्त होने से पहले कई धर्म-संकट सहने पड़े।

जिन बाल-दम्पती को चेतना हो, वे इस दृष्टान्त से चेतें।

७. धर्म की झाँकी

मैं वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मा था, इसलिए हवेली में जाने के प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेली में चलने वाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहाँ से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन में भूत-प्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपन में जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूँ कि उसके मूल में रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

पिताजी की बीमारी का थोड़ा समय पोरबंदर में बीता था। वहाँ वे रामजी के मच्दिर में रोज़ रात के समय रामायण सुनते थे। सुनाने वाले रामचन्द्रजी के परम भक्त थे। लाधा महाराज का कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते थे। खुद उसके रस में तल्लीन हो जाते थे। तथा श्रोताजनों को भी रस तल्लीन कर देते थे। उस समय मेरी उमर तेरह साल की रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठ में मुझे खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है । आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तिम ग्रंथ मानता हूँ।

राजकोट में मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायों के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता वैष्णव-मन्दिर में, शिवालय में और राम-मन्दिर में भी जाते और भाइयों को भी साथ ले जाते या भेजते थे।

फिर पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों में से भी कोई ने कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजी के साथ धर्म और व्यवहार की बातें किया करते थे। इसके सिवा,

पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्म की चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक और अकसर रसपूर्वक सुना करते थे। 'नर्स' होने के कारण ऐसी चर्चा के समय मैं अकसर हाज़िर रहता था। इस सारे वातावरण का प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मों के लिए समान भाव पैदा हो गया।

एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उसका कारण था। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओं की और हिन्दू धर्म को मानने वालों की बुराई करते थे। मुझे वह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए खड़ा रहा होऊँगा। दूसरी बार फिर वहाँ खड़े रहने की इच्छा ही न हुई। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई बनने की बात सुनी। गाँव में चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्म की दीक्षा देते समय गोमाँस खिलाया गया और शराब पिलायी गयी। उनकी पोशाक भी बदल दी गयी और ईसाई बनने के बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेज़ी टोपी पहनने लगे। इन बातों से मुझे पीड़ा पहुँची। जिस धर्म के कारण गोमाँस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक बदलनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाय? मेरे मन ने यह दलील की। फिर यह भी सुनने में आया कि जो भाई ईसाई बने थे, उन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म की, रीति-रिवाजों की और देश की निन्दा करना शुरू कर दिया था। इन सब बातों से मेरे मन में ईसाई धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वर के प्रति आस्था थी।

पर एक चीज़ ने मन में जड़ जमा ली – यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य में है। सत्य को तो खोजना ही होगा। दिन-पर-दिन सत्य की महिमा मेरे निकट बढ़ती गयी। सत्य की व्याख्या विस्तृत होती गयी, और अभी भी हो रही है।

फिर, नीति का एक छप्पय दिल में बस गया। अपकार का बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह एक जीवन-सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है।

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे.
आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए.
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जो गु गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही.[४]

---

४. जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें। जो आकर हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम उमंग से दण्डवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरों की कीमत का काम कर दें। जो हमारे प्राण बचावे, उसका दुःख दूर करने के लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे, उसका तो हमें मन, बचन और कर्म से दस गुना उपकार करना ही चाहिए। लेकिन जग में सच्चा और सार्थक जीना उसीका है, जो अपकार करने वाले के प्रति भी उपकार करता है।

८. विलायत की तैयारी

मेट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने के उपरान्त बड़ों की इच्छा थी कि पास हो जाने पर मुझे आगे कोलेज की पढ़ाई करनी चाहिए। कोलेज बम्बई में भी था और भावनगर में भी । भावनगर का खर्च कम था, इसलिए भावनगर के शामलदास कोलेज में भरती होने का निश्चय हुआ। कोलेज में मुझे कुछ आता न था। सब कुछ मुश्किल मालूम होता था। अध्यापकों के व्याख्यानों में न रस आता और न मैं उन्हें समझ पाता। इसमें दोष अध्यापकों का नहीं, मेरी कमज़ोरी का ही था। उस समय के शामलदास कोलेज के अध्यापक तो प्रथम पंक्ति के माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके मैं घर आया।

कूटुम्ब के पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान, व्यवहार-कुशल ब्राह्मण मावजी दवे थे। पिताजी के स्वर्गवास के बाद भी उन्होंने कृटुम्ब के साथ सम्बन्ध बनाये रखा था। वे छुट्टी के इन दिनों में घर आये। माताजी और बड़े भाई के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने मेरी पढ़ाई के बारे में पूछताछ की। जब सुना कि मैं शामलदास कोलेज में हूँ, तो बोले : "जमाना बदल गया है। तुम भाइयों में से कोई कबा गांधी की गद्दी संभालना चाहे तो बिना पढ़ाई के वह नहीं होगा। यह लड़का अभी पढ़ रहा है, इसलिए गद्दी संभालने को बोझ इससे उठवाना चाहिए। इसे चार-पाँच साल तो अभी बी० ए० होने में लग जाएँगे, और इतना समय देने पर भी इसे ५०-६० रुपये की नौकरी मिलेगी, दीवानगीरी नहीं। और अगर उसके बाद इसे मेरे लड़के की तरह वकील बनायें, तो थोड़े वर्ष और लग जाएँगे। और तब तक तो दीवानगीरी के लिए वकील भी बहुत से तैयार हो चुकेंगे। आपको इसे विलायत भेजना चाहिए। नये आये हुए बारिस्टरों को देखो, वे कैसे ठाठ से रहते हैं! वे चाहें तो उन्हें दीवानगीरी आज मिल सकती है। मेरी तो सलाह है कि आप मोहनदास को इसी साल विलायत भेज दीजिए। विलायत में मेरे केवलराम के कई दोस्त हैं; वह उनके नाम सिफ़ारिशी पत्र दे देगा, तो इसे वहाँ कोई कठिनाई नहीं होगी।"

जोशीजी ने (मावजी दवे को हम इसी नाम से पुकारते थे) मेरी तरफ़ देखकर मुझसे ऐसे लहज़े में पूछा, मानो उनकी सलाह के स्वीकृत होने में उन्हें कोई शंका ही न हो :

क्यों, तुझे विलायत जाना अच्छा लगेगा या यहीं पढ़ते रहना ?" मुझे जो भाता था वहीं वैद्यने बता दिया। मैं कोलेज की कठिनाइयों से डर तो गया ही था। मैंने कहा, "मुझे विलायत भेजें, तो बहुत ही अच्छा है।"

बडे भैया सोच में पड गये। मुझे भेजने के लिए रुपयों का बंदोबस्त प्रबंध कैसे किया जाये? इतना ही नहीं; मुझ जैसे नवयुवा को विदेश कैसे भेजा जाये?"

माताजी कैसे समझतीं? उन्होंने सब तरह की पूछताछ शुरू कर दी थी। कोई कहता, नौजवान लोग विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं; कोई कहता, वे माँसाहार करने लगते हैं; कोई कहता, वहाँ शराब के बिना तो चलता ही नहीं। माताजी ने मुझे ये सारी बातें सुनायीं। इन सारी बातों का क्या? मैंने कहा, "पर तू मेरा विश्वास नहीं करेगी? में तुझे धोखा नहीं दूँगा। शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं इन तीनों चीज़ों से बचूँगा। अगर ऐसा खतरा होता, तो जोशीजी क्यों जाने देते?"

माताजी बोलीं, "मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देश में क्या होगा? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामी से पूछूँगी।"

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियों में से बने हुए एक जैन साधु थे। जोशीजी की तरह वे भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मदद की। वे बोले : "मैं इस लड़के से इन तीनों चीज़ों के व्रत लिवाऊँगा। फिर इसे जाने देने में कोई हानि नहीं होगी।" उन्होंने प्रतिज्ञा लिवायी और मैंने माँस, मदिरा तथा स्त्री-संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा की। माताजी ने आज्ञा दी।

हाईस्कूल में सभा हुई। राजकोट का एक युवक विलायत जा रहा है, यह आश्चर्य का विषय बना, मैं जवाब के लिए कुछ लिखकर ले गया था। जवाब देते समय उसे मुश्किल से पढ़ पाया। मुझे इतना याद है कि मेरा सिर घूम रहा था और शरीर काँप रहा था।

माताजी की आज्ञा और आशीर्वाद लेकर और पत्नी के गोद में कुछ महीनों का बालक छोड़कर मैं उमंगों के साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहाँ मित्रों ने भाई को बताया कि जून-

जुलाई में हिन्द महासागर में तूफ़ान आते हैं और मेरी यह पहली ही समुद्री यात्रा है, इसलिए नवम्बर में रवाना करना चाहिए।

इस बीच जाति में खलबली मची। जाति की सभा बुलायी गयी। मुझसे जवाब तलब किया जाना चाहिए। मुझे पंचायत में हाज़िर रहने का हुक्म मिला। मैं गया। मैं नहीं जानता कि मुझमें अचानक हिम्मत कहाँ से आ गयी। हाज़िर रहने में मुझे न तो संकोच हुआ, न डर लगा। जाति के सरपंच के साथ दूर का कुछ रिश्ता भी था। पिताजी के साथ उनका सम्बन्ध अच्छा था। उन्होंने मुझसे कहा :

"जाति का ख़याल है कि तूने विलायत जाने का जो विचार किया है वह टीक नहीं है। हमारे धर्म में समुद्र पार करने की मनाही है, तिस पर यह भी सुना जाता है कि वहाँ धर्म की रक्षा नहीं हो पाती। वहाँ साहब लोगों के साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने जवाब दिया, "मुझे तो लगता है कि विलायत जाने में लेशमात्र भी अधर्म नहीं है। मुझे तो वहाँ जाकर विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातों का आपको डर है, उनसे दूर रहने की प्रतिज्ञा मैंने अपनी माताजी के सम्मुख ली है, इसलिए मैं उनसे दूर रह सकूँगा।"

सरपंच बोले : "पर हम तुझसे कहते हैं कि वहाँ धर्म की रक्षा हो ही नहीं सकती। तू जानता है कि तेरे पिताजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था। तुझे मेरी बात माननी चाहिए।"

मैंने जवाब में कहा : आपके साथ के सम्बन्ध को मैं जानता हूँ । आप पिता के समान हैं । पर इस बारे में मैं लाचार हूँ । विलायत जाने का अपना निश्चय मैं बदल नहीं सकता । जो विद्वान ब्राह्मण मेरे पिताजी के मित्र और सलाहकार हैं, वे मानते हैं कि मेरे विलायत जाने में कोई दोष नहीं है। मुझे अपनी माताजी और अपने भाई की अनुमति भी मिल चुकी है।"

"पर तू जाति का हुक्म नहीं मानेगा?"

"मैं लाचार हूँ। मेरा ख़याल है कि इसमें जाति को दखल नहीं देना चाहिए।"

इस जवाब से सरपंच गुस्सा हुए। मुझे दो-चार बातें सुनायीं। में स्वस्थ बैठा रहा। सरपंच ने आदेश दिया :

"यह लड़का आज से जातिच्युत माना जायेगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिदा करने जायेगा, पंच उससे जवाब तलब करेंगे और उससे सवा रुपया दण्ड का लिया जायेगा।"

युझ पर इस निश्चय का कोई असर नहीं हुआ। मैंने सरपंच से बिदा ली। अब सोचना यह था कि इस निश्चय का मेरे भाई पर क्या असर होगा। सौभाग्य से वे दृढ़ रहे और मुझे लिख भेजा कि जाति के निश्चय के बावजूद वे मुझे विलायत जाने से नहीं रोकेंगे।

मित्रों ने मेरे लिए जगह भी त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़ के वकील का नाम) की कोठरी में ही रखी थी। उनसे मेरे विषय में कह भी दिया था। वे तो प्रौढ़ उमर के अनुभवी सज्जन थे। मैं दुनिया के अनुभव से शून्य अठारह साल का नौजवान था। मजमुदार ने मित्रों से कहा, "आप इसकी फ़िक्र न करें।"

इस तरह १८८८ के सितम्बर महीने की ४ तारीख को मैंने बम्बई का बन्दरगाह छोड़ा।

९. स्टीमर में

अंग्रेज़ी में बातें करने की मुझे आदत ही न थी। दूसरे दर्जे के सलून में मजमुदार को छोड़कर दूसरे सब मुसाफिर अंग्रेज़ थे। मैं उनके साथ बोल न पाता था। वे मुझसे बोलने का प्रयत्न करते, तो मैं समझ न पाता; और समझ लेता, तो जवाब क्या देना सो सूझता न था। बोलने से पहले हरएक वाक्य को जमाना पड़ता था। कांटे-चम्मच से खाना आता न था, और किस पदार्थ में माँस नहीं है, यह पूछने की हिम्मत नहीं होती थी। इसलिए मैं खाने की मेज़ पर तो कभी गया ही नहीं। अपनी कोठरी में ही खाता था। अपने साथ खास करके जो मिठाई बगैरा लाया था, उन्हीं से मैंने काम चलाया। मजमुदार की तो कोई संकोच नहीं था। वे सबके साथ घुलमिल गये थे। डेक पर भी आजादी से जाते थे। मैं सारे दिन कोटरी में बैठा रहता था। कभी-कदास, जब डेक पर थोड़े लोग होते, तो कुछ देर वहाँ जाकर बैठ लेता था। मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ घुलो-मिलो, आजादी से बातचीत करो; वे मुझसे यह भी कहते कि वकील की जीभ खूब चलनी चाहिए। वकील के नाते वे अपने अनुभव सुनाते और कहते कि अंग्रेज़ी हमारी भाषा नहीं है, उसमें गलतियाँ तो होंगी ही, फिर भी खुलकर बोलते रहना चाहिए। पर मैं अपनी भीरुता छोड़ न पाता था।

मुझ पर दया करके एक भले अंग्रेज़ ने मुझसे बातचीत शुरू की। वे उमर में बड़े थे। मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, किसीसे बातचीत क्यों नहीं करता, आदि प्रश्न वे पूछते रहते। उन्होंने मुझे खाने की मेज़ पर जाने की सलाह दी। माँस न खाने के मेरे आग्रह की बात सुनकर वे हँसे और मुझ पर तरस खाकर बोले, "यहाँ तो (पोर्टसईद पहुँचने से पहले तक) ठीक है, पर बिस्के की खाड़ी में पहुँचने पर तुम अपने विचार बदल लोगे। इंग्लैंड में तो इतनी ठंड पडती है कि माँस खाये बिना चलता ही नहीं।

मैंने कहा, "मैंने सुना है कि वहाँ लोग माँसाहार के बिना रह सकते हैं।"

वे बोले, "इसे ग़लत समझो। अपने परिचितों में मैं ऐसे किसी आदमी को नहीं जानता, जो माँस न खाता हो। सुनो, मैं शराब पीता हूँ, पर तुम्हें पीने के लिए नहीं कहता। लेकिन मैं समझता हूँ कि तुम्हें माँस तो खाना ही चाहिए।"

मैंने कहा, "इस सलाह के लिए मैं आपका आभार मानता हूँ, पर माँस न खाने के लिए मैं अपनी माताजी से वचन-बद्ध हूँ। इस कारण मैं माँस नहीं खा सकता। अगर उसके बिना काम ही न चला, तो मैं वापस हिन्दुस्तान चला जाऊँगा, पर माँस तो कभी न खाऊँगा।"

बिस्के की खाड़ी आयी। वहाँ भी मुझे न तो माँस की ज़रूरत मालूम हुई और न मदिरा की।

हम साउधम्प्टन बन्दरगाह पर पहुँचे। मुझे याद है कि उस दिन शनिवार था। जहाज़ पर मैं काली पोशाक पहनता था। मित्रों ने मेरे लिए सफेद फलालैन के कोट-पतलून भी बनवा दिये थे। उन्हें मैंने विलायत में उतरते समय पहनने का विचार कर रखा था, यह समझकर कि सफेद कपड़े अधिक अच्छे लगेंगे! मैं फलालैन का सूट पहनकर उतरा। सितम्बर के आख़िरी दिन थे। मैंने वहाँ इस पोशाक में एक अपने को ही देखा। मेरी पेटियाँ और उनकी चाबियाँ तो ग्रिण्डले कम्पनी के एजेण्ट ले गये थे। सबकी तरह मुझे भी करना चाहिए, यह समझकर मैंने तो अपनी चाबियाँ भी दे दी थीं!

मेरे पास चार सिफ़ारिशी पत्र थे : डोक्टर प्राणजीवन मेहता के नाम, दलपतराम शुक्ल के नाम, प्रिन्स रणजीतसिंहजी के नाम और दादाभाई नौरोजी के नाम। जहाज़ में किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटल में ठहरना चाहिए। इस कारण मजमुदार और मैं उस होटल में पहुँचे। में तो अपनी सफेद पोशाक की शरम से ही गड़ा जा रहा था। तिस पर होटल में पहुँचने पर पता चला कि अगले दिन रविवार होने से ग्रिण्डले के यहाँ से सामान सोमवार तक नहीं आयेगा। इससे मैं परेशान हुआ।

मैंने डो. मेहता को साउदेम्पटन से एक तार भेजा था।

सात-आठ बजे डोक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेमभरा विनोद किया। मुझे फलालीन में देखकर हँस पडे। मैंने अनजाने रेशमी रोओंवाली उनकी टोपी देखने के ख़याल से उठायी और उस पर उलटा हाथ फेरा। इससे टोपी के रोएँ खड़े हो गये । डोक्टर मेहता ने देखा, मुझे तुरन्त ही

रोका । पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकने का नतीजा तो यही निकल सकता था कि दुबारा वैसा अपराध न हो।

समझिये कि यहीं से यूरोप के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में मेरी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ । डोक्टर मेहता हँसते-हँसते बहुत-सी बातें समझाते थे । किसी की चीज़ छूनी नहीं चाहिए; किसीसे जान-पहचान होने पर जो प्रश्न हिन्दुस्तान में यों ही पूछे जा सकते हैं, वे यहाँ नहीं पूछे जा सकते; बातें करते समय ऊँची आवाज़ से नहीं बोल सकते; हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों से बात करते समय 'सर' कहने का जो रिवाज है, वह यहाँ अनावश्यक है; 'सर' तो नौकर अपने मालिक से अथवा अपने बड़े अफसर से कहता है। फिर उन्होंने होटल में रहने के खर्च की भी चर्चा की और सुझाया कि किसी निजी कुटुम्ब में रहने रहने की ज़रूरत पड़ेगी । इस विषय में अधिक विचार सोमवार पर छोड़ा गया।

होटल में तो हम दोनों को यही लगा कि यहाँ कहाँ आ फँसे। होटल महँगा भी था। माल्टा से एक सिन्धी यात्री जहाज़ पर सवार हुए थे। मजमुदार उनसे अच्छे घुलमिल गये गये थे। ये सिन्धी यात्री लंदन के अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे किराये पर लेने की जिम्मेदारी उठायी। हम सहमत हुए और सोमवार को जैसे ही सामान मिला, बिल चुकाकर उक्त सिनधी सज्जन द्वारा ठीक किये कमरों में हमने प्रवेश किया।

मुझे याद है कि मेरे हिस्से का होटल का बिल लगभग तीन पौंड का हुआ था। मैं तो उसे देखकर चकित ही रह गया। तीन पौंड देने पर भी भूखा रहा । होटल की कोई चीज़ मुझे रुचती नहीं थी । एक चीज़ ली और वह नही रूची; दूसरी ली; पर दाम तो दोनों के ही चुकाने चाहिए। यह कहना ठीक होगा कि अभी तो मेरा काम बम्बई से लाये हुए पाथेय से से ही चल रहा था ।

इस कमरे में भी मैं बहुत परेशान रहा। देश की याद खूब आती थी । माता का प्रेम मूर्तिमान होता था। रात पड़ती और मैं रोना शुरू करता । घर की अनेक स्मृतियों की चढ़ाई के कारण नींद तो आ ही कैसे सकती थी? इस दुःख की चर्चा किसीसे की भी नहीं जा सकती थी; करने से लाभ भी क्या था? मैं स्वयं नहीं जानता था कि किस उपाय से मुझे आश्वासन मिलेगा। यहाँ के लोग

विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र, घरों में रहने का ढंग भी विचित्र! अंग्रेज़ी रहनसहन तथा रीति रिवाजों में मैं नया पाठी था अतः सतत सतर्क रहना पडता था। तिस पर खाने-पीने का परहेज; और खाने योग्य आहार सूखा तथा नीरस लगता था। इस कारण मेरी दशा सरौते के बीच सुपारी जैसी हो गयी। विलायत में रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था और देश को लौटा नहीं जा सकता था। विलायत पहुँच जाने पर तो तीन साल वहाँ पूरे करने का ही मेरा आग्रह था।

भाग-२ : लंडन में विद्यार्थी के रूप में

१०. लंडन में

डोक्टर मेहता सोमवार को मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल पहुँचे । वहाँ उन्हें हमारा नया पता मिला; इससे वे नई जगह आकर मिले। डोक्टर मेहता ने हमारे कमरे बगैरा देखे और सिर हिलाया: "यह जगह काम की नहीं। इस देश में आकर पढ़ने की अपेक्षा यहाँ के जीवन और रीती-रिवाज का अनुभव प्राप्त करना ही अधिक महत्त्व का है। इसके लिए किसी परिवार में रहना ज़रूरी है। पर अभी तो मैंने सोचा है कि तुम्हें कुछ तालीम मिल सके, इसके लिए — के घर रहो। मैं तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा।"

मैंने आभारपूर्वक उनका सुझाव मान लिया। मैं मित्र के घर पहुँचा। उनके स्वागत-सत्कार में कोई कमी नहीं थी। उन्होंने मुझे अपने सगे भाई की तरह रखा, अंग्रेज़ी रीति-रिवाज सिखाये; यह कह सकता हूँ कि अंग्रेज़ी में थोड़ी बातचीत करने की आदत उन्हींने डलवाई।

मेरे भोजन का प्रश्न बहुत विकट हो गया। बिना नमक और मसालों वाली साग-सब्जी रुचती नहीं थी। घर की मालकिन मेरे लिए कुछ बनावे तो क्या बनावे ? सवेरे तो ओटमील[५] की लपसी बनती। उससे पेट कुछ भर जाता। पर दोपहर और शाम को मैं हमेशा भूखा रहता। मित्र मुझे रोज़ माँस खाने के लिए समझाते। मैं प्रतिज्ञा की आड़ लेकर चुप हो जाता। दोपहर को सिर्फ़ रोटी, पत्तों वाली एक भाजी और मुरब्बे पर गुज़र करता था। यही खुराक शाम के लिए भी थी। मैं देखता कि रोटी के तो दो-तीन टुकड़े ही लेने की रीत है। इससे अधिक माँगते शरम लगती थी। मुझे डटकर खाने की आदत थी। भूख तेज़ थी और खूब खुराक चाहती थी। दोपहर या शाम को दूध नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देखकर एक दिन मित्र चिढ़ गये और बोले: "अगर तुम मेरे सगे भाई होते, तो मैं तुम्हें निश्चय ही वापस भेज देता। यहाँ की हालत जाने बिना निरक्षर माता के सामने की गई प्रतिज्ञा का मूल्य ही क्या? वह तो प्रतिज्ञा ही नहीं कही जा सकती। मैं तुमसे कहता हूँ कि क़ानून इसे प्रतिज्ञा नहीं मानेगा। ऐसी प्रतिज्ञा से चिपटे रहना तो निरा अंधविश्वास कहा जाएँगा। और ऐसे अंधविश्वास में फँसे रहकर तुम इस देश से अपने देश में कुछ भी न ले जा

सकोगे। तुम तो कहते हो कि तुमने माँस खाया है। तुम्हें वह अच्छा भी लगा है। जहाँ खाने की ज़रुरत नहीं वहाँ खाया, और जहाँ खाने की खास ज़रुरत है वहाँ यह कैसा आश्चर्य है!"

मैं टस से मस नहीं हुआ।

ऐसी बहस रोज़ हुआ करती। मेरे पास छत्तीस रोगों को मिटाने वाला एक नन्ना ही था। मित्र मुझे जितना समझाते, मेरी दृढ़ता उतनी ही बढ़ती जाती। मैं रोज़ भगवान से रक्षा की याचना करता और मुझे रक्षा मिलती। मैं नहीं जानता था कि ईश्वर कौन है। पर रम्भा की दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्र ने मेरे सामने बेन्थम का ग्रंथ पढ़ना शुरू किया। उपयोगितावाद वाला अध्याय पढ़ा। मैं घबराया। भाषा ऊँची थी। मैं मुश्किल से समझ पाता। उन्होंने उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया :

"मैं आप से माफ़ी चाहता हूँ। मैं ऐसी सूक्ष्म बातें समझ नहीं पाता। मैं स्वीकार करता हूँ कि माँस खाना चाहिए, पर मैं अपनी प्रतिज्ञा का बन्धन तोड़ नहीं सकता। उसके लिए मैं कोई दलील नहीं दे सकता। मुझे विश्वास है कि दलील में मैं आपको कभी जीत नहीं सकता। पर मूर्ख समझकर अथवा हठी समझकर इस मामले में मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपके प्रेम को समझता हूँ। आपका आशय समझता हूँ। आपको मैं अपना परम हितैषी मानता हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि आपको दुःख होता है, इसीसे आप इतना आग्रह करते हैं। पर मैं लाचार हूँ। मेरी प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।"

मित्र देखते रहे। उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी। "बस, अब मैं बहस नहीं करूँगा," कहकर वे चुप हो गये। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरे बारे में उनकी चिन्ता दूर न हुई। वे बीड़ी पीते थे, शराब पीते थे। लेकिन मुझसे कभी नहीं कहा कि इनमें से एक का भी मैं सेवन करूँ। उलटे, वे मना ही करते रहे। उन्हें चिन्ता यह थी कि माँसाहार के अभाव में मैं कमज़ोर हो जाऊँगा और इंग्लैंड में निश्चिन्ततापूर्वक रह न सकूँगा।

इस तरह एक महीने तक मैंने नौसिखुए के रूप में उम्मीदवारी की। मित्र का घर रिचमन्ड में था, इसलिए मैं हफ़्ते में एक या दो बार ही लन्दन जा पाता था। डोक्टर मेहता और भाई दलपतराम शुक्ल ने सोचा कि अब मुझे किसी कूटुम्ब में रहना चाहिए। भाई शुक्ल ने वेस्ट केन्सिंग्टन में एक एँग्लो-इण्डियन का घर खोज निकाला और मुझे वहाँ रखा। घर की मालकिन एक विधवा थी। उससे मैंने माँस-त्याग की बात कही। बुढ़िया ने मेरी सार-संभाल की जिम्मेदारी ली। मैं वहाँ रहने लगा।

वहाँ भी मुझे रोज़ भूखा रहना पड़ता था। मैंने घर से मिठाई बगैरा खाने की चीजें मँगाई थीं, पर वे अभी आई नहीं थीं। सब कुछ फीका लगता था। बुढ़िया हमेशा पूछती; पर वह करे क्या? तिस पर मैं अभी तक शरमाता था। जितना रखती थी उतना ही खाता था। बुढ़िया के दो लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके थोड़ी अधिक रोटी देतीं। पर वे बेचारी क्या जानें कि उनकी समूची रोटी खाने पर ही मेरा पेट भर सकता था?

लेकिन अब मैं होशियारी पकड़ने लगा था। अभी पढ़ाई शुरू नहीं हुई थी। मुश्किल से समाचारपत्र पढ़ने लगा था। यह भाई शुक्ल का प्रताप था। हिन्दुस्तान में मैंने समाचारपत्र कभी पढ़े नहीं थे। पर बराबर पढ़ते रहने के अभ्यास से उन्हें पढ़ने का शौक़ मैं पैदा कर सका था। *डेली न्यूज़, डेली टेलिग्राफ* और *पेलमेल गज़ेट* इन पत्रों को सरसरी निगाह से देख जाता था। पर शुरू-शुरू में तो इसमें मुश्किल से एक घंटा खर्च होता होगा।

मैंने घूमना शुरू किया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नाहार देने वाले भोजनगृह की खोज करनी थी। घर की मालकिन ने भी कहा था कि खास लन्दन में ऐसे गृह मौजूद हैं। में रोज़ दस-बारह मील चलता था। किसी मामूली से भोजन-गृह में जाकर पेट भर रोटी खा लेता था। पर उससे संतोष न होता था। इस तरह भटकता हुआ एक दिन मैं फैरिंग्डन स्ट्रीट पहुँचा और वहाँ 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्नाहारी भोजनालय) का नाम पढ़ा। मुझे वह आनन्द हुआ, जो बालक को मनचाही चीज़ मिलने से होता है। हर्ष-विभोर होकर अन्दर घुसने से पहले मैंने दरवाजे के पास की शीशे वाली खिड़की में बिक्री की पुस्तकें देखीं। उनमें मुझे सोल्ट की *अन्नाहार की हिमायत*

नामक पुस्तक दीखी। एक शिलिंग में मैंने वह खरीद ली और फिर भोजन करने बैठा। विलायत आने के बाद यहाँ पहली बार भरपेट भोजन मिला। ईश्वर ने मेरी भूख मिटायी।

सोल्ट की पुस्तक पढ़ी। मुझ पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। इस पुस्तक को पढ़ने के दिन से मैं स्वेच्छापूर्वक, अर्थात् विचार-पूर्वक, अन्नाहार में विश्वास करने लगा। माता के निकट की गई प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्द देने लगी। और जिस तरह अब तक मैं यह मानता था कि सब माँसाहारी बनें तो अच्छा हो, और पहले केवल सत्य की रक्षा के लिए तथा बाद में प्रतिज्ञा-पालन के लिए ही मैं माँस-त्याग करता था और भविष्य में किसी दिन स्वयं आज़ादी से, प्रकट रूप में, माँस खाकर दूसरों को खाने वालों के दल में सम्मिलित करने की उमंग रखता था, उसी तरह अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरों को वैसा बनाने का लोभ मुझमें जागा।

---

५. जई का आटा

११. 'सभ्य' पोशाक में

इस बीच मेरे उन मित्र को तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने मुझे नाटक दिखाने के लिए न्योता। वहाँ जाने से पहले मुझे उनके साथ होबर्न भोजन-गृह में भोजन करना था। मेरे मित्र को ऐसा ख़्याल था कि भोजनगृह में मर्यादा के कारण भी मैं चूप रहूँगा। सैकड़ों के बीच हम दो मित्र एक मेज़ के सामने बैठे। मित्र ने पहली 'प्लेट' मँगाई। वह 'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्र से क्या पूछता? मैंने तो परोसने वाले को अपने पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा :

"क्या है?"

मैंने धीरे से संकोचपूर्वक कहा :

"मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें माँस है या नहीं?"

"ऐसे गृह में यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो तो तुम बाहर जाकर किसी छोटे से भोजन-गृह में खा लो और बाहर ही मेरी राह देखो।"

मैं इस प्रस्ताव से खुश होकर उठा। पास ही एक अन्नाहार वाला भोजन-गृह था। पर वह तो बन्द हो चुका था। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्र ने उक्त घटना के बारे में एक भी शब्द मुँह से न निकाला। मेरे पास तो कहने को था ही क्या?

लेकिन यह हमारे बीच का अन्तिम मित्र-युद्ध था। न हमारा सम्बन्ध टूटा, न उसमें कटुता आई। उनके सारे प्रयत्नों के मूल में रहे हुए प्रेम को मैं पहचान सका था। इस कारण विचार और आचार की भिन्नता के रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

पर मैंने सोचा कि मुझे उनका डर दूर करना चाहिए। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूँगा। सभ्य के लक्षण ग्रहण करूँगा और दूसरे प्रकार से समाज में समरस होने योग्य बनकर अन्नाहार की अपनी विचित्रता को छिपा लूँगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखने के लिए अपनी सामर्थ्य से परे का और छिछला रास्ता पकड़ा।

विलायती होने पर भी बम्बई के कटे-सिले कपड़े अच्छे अंग्रेज़ समाज में शोभा नहीं देंगे, इस विचार से मैंने "आर्मी और नेवी' स्टोर में कपड़े सिलवाये। उन्नीस शिलिंग की (उस ज़माने के लिहाज़ से तो यह कीमत बहुत ही कही जाएगी) 'चिमनी' टोपी सिर पर पहनी। इतने से संतोष न हुआ तो बोण्ड स्ट्रीट में, जहाँ शौक़ीन लोगों के कपड़े सिलते थे, दस पौण्ड पर बत्ती रखकर शाम की पोशाक सिलवायी। भोले और बादशाही दिल वाले बड़े भाई से मैंने दोनों जेबों में लटकाने लायक सोने की एक बढ़िया चेन मँगवायी और वह मिल भी गयी। बँधी-बँधायी टाई पहनना शिष्टाचार में शुमार न था, इसलिए टाई बाँधने की कला हस्तगत की। देश में आईना हजामत के दिन ही देखने को मिलता था, पर यहाँ तो बड़े आईने के सामने खड़े रहकर ठीक से टाई बाँधने में और बालों में पट्टी डालकर सीधी माँग निकालने में रोज़ लगभग दस मिनिट तो बरबाद होते ही थे। बाल मुलायम नहीं थे, इसलिए उन्हें अच्छी तरह मुड़े हुए रखने के लिए ब्रश (झाड़ू ही समझिए!) के साथ रोज़ लड़ाई चलती थी। और टोपी पहनते तथा निकालते समय हाथ तो मानो माँग को सहेजने के लिए सिर पर पहुँच ही जाता था और बीच-बीच में, समाज में बैठे-बैठे, माँग पर हाथ फिराकर बालों को व्यवस्थित रखने की एक और सभ्य क्रिया बराबर चलती ही रहती थी।

पर इतनी टीमटाम ही काफ़ी न थी। अकेली सभ्य पोशाक से सभ्य थोड़े ही बना जा सकता था? मैंने सभ्यता के दूसरे कई बाहरी गुण भी जान लिए थे और मैं उन्हें सीखना चाहता था। सभ्य पुरुष को नाचना जानना चाहिए। उसे फ्रेंच अच्छी तरह जान लेनी चाहिए; क्योंकि फ्रेंच इंग्लैण्ड के पड़ोसी फ्रांस की भाषा थी, और सारे यूरोप की राष्ट्रभाषा भी थी। और, मुझे यूरोप में घूमने की इच्छा थी। इसके अलावा, सभ्य पुरुष को लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिए। मैंने नृत्य सीखने का निश्चय किया। एक कक्षा में भरती हुआ। एक सत्र के करीब तीन पौण्ड जमा किए। कोई तीन हफ़्तों में करीब छह सबक सीखें होंगे। पैर ठीक से तालबद्ध पड़ते न थे। पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, कुछ समझ में न आता था। तो अब क्या किया जाये? अब तो बाबाजी

की बिल्ली वाला किस्सा हुआ। चूहों को भगाने के लिए बिल्ली, बिल्ली के लिए गाय, और गाय के लिए आदमी यों बाबाजी का परिवार बढ़ा; उसी तरह मेरे लोभ का परिवार भी बढ़ा। वायोलिन बजाना सीख लूँ, तो सुर और ताल का ख़याल हो जाय। तीन पौण्ड वायोलिन खरीदने में गँवाये और कुछ उसकी शिक्षा के लिए भी दिये। भाषण करना सीखने के लिए एक तीसरे शिक्षक का घर खोजा। उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही। बेल *की स्टैण्डर्ड एलोक्युशनिस्ट* पुस्तक खरीदी। पिट का एक भाषण शुरू किया।

इन बेल साहबने मेरे कान में घंटी (बेल) बजायी। मैं जागा।

मुझे कौन इंग्लैण्ड में जीवन बिताना है? लच्छेदार भाषण करना सीखकर मैं क्या करूँगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूँगा? वायोलिन तो देश में भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूँ। मुझे विद्या-धन बढ़ाना चाहिए। मुझे अपने पेशे से सम्बन्ध रखने वाली तैयारी करनी चाहिए। मैं अपने सदाचार से सभ्य समझा जाऊँ तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिए।

इन विचारों की धुन में मैंने उपर्युक्त आशय के उद्गारोंवाला पत्र भाषण-शिक्षक को भेज दिया। उनसे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नृत्य-शिक्षिका को भी ऐसा ही पत्र लिखा। वायोलिन शिक्षिका के घर वायोलिन लेकर पहुँचा। उन्हें जिस दाम भी वह बिके, बेच डालने की इजाज़त दे दी। उनके साथ कुछ मित्रताका-सा सम्बन्ध हो गया था। इस कारण मैंने उनसे अपने मोह की चर्चा की। नाच आदि के जंजाल में से निकल जाने की मेरी बात उन्होंने पसन्द की।

सभ्य बनने की मेरी यह सनक लगभग तीन महीने तक चली होगी। पोशाक की टीमटाम तो बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बना।

१२. फेरफार

कोई यह न माने कि नाच आदि के मेरे प्रयोग उस समय की मेरी स्वच्छन्दता के सूचक हैं। पाठकों ने देखा होगा कि उनमें कुछ समझदारी थी। मोह के इस समय में भी मैं एक हद तक सावधान था। पाई-पाई का हिसाब रखता था। खर्च का अंदाज़ रखता था।

अपनी रहन-सहन पर मेरा कुछ अंकुश था, इस कारण मैं देख सका कि मुझे कितना खर्च करना चाहिए।

अब तक मैं कुटुम्बों में रहता था, उसके बदले अपना ही कमरा लेकर रहने का मैंने निश्चय किया, और यह भी तय किया कि काम के अनुसार और अनुभव प्राप्त करने के लिए अलग-अलग मुहल्लों में घर बदलता रहूँगा। घर मैंने ऐसी जगह पर पसन्द किये कि जहाँ से काम की जगह पर आधे घंटे में पैदल पहुँचा जा सके और गाड़ी-भाड़ा बचे। इससे पहले जहाँ जाना होता वहाँ का गाड़ी-भाड़ा हमेशा चुकाना पड़ता और घूमने के लिए अलग से समय निकालना पड़ता था। अब काम पर जाते हुए ही घूमने की व्यवस्था जम गई, और बचत भी हुई। और इस व्यवस्था के कारण मैं रोज़ आठ-दस मील तक आसानी से घूम लेता था। खासकर इस एक आदत के कारण मैं विलायत में शायद ही कभी बीमार पड़ा होऊँगा। मेरा शरीर काफ़ी कस गया। कुटुम्ब में रहना छोड़कर मैंने दो कमरे किराये पर लिए। एक सोने के लिए और दूसरा बैठक के रूप में। यह फेरफार की दूसरी मंज़िल कही जा सकती है। तीसरा फेरफार अभी होना शेष था ।

इस तरह आधा खर्च बचा। लेकिन समय का क्या हो ? मैं जानता था कि बारिस्टरी की परीक्षा के लिए बहुत पढ़ना ज़रूरी नहीं है; इसलिए मुझे बेफ़िक्री थी। पर मेरी कच्ची अंग्रेज़ी मुझे दुःख देती थी। मैंने सोचा मुझे बारिस्टर बनने के अलावा कुछ और भी पढ़ना चाहिए। ओक्सफर्ड केम्ब्रिज की पढ़ाई का पता लगाया। कई मित्रों से मिला। मैंने देखा कि वहाँ जाने से खर्च बहुत बढ़ जायेगा और पढ़ाई लम्बी चलेगी। मैं तीन साल से अधिक रह नहीं सकता था। किसी मित्र ने कहा, "अगर तुम्हें कोई कठिन परीक्षा ही देनी हो, तो तुम लन्दन की मैट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें मेहनत काफ़ी करनी पड़ेगी और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" मुझे यह

सुझाव अच्छा लगा। पर परीक्षा के विषय देखकर मैं चौंका। लैटिन और दूसरी एक भाषा अनिवार्य थी। लैटिन कैसे सीखी जाय? पर मित्र ने सुझायाः "वकील के लिए लैटिन बहुत उपयोगी है। लैटिन जानने वाले के लिए क़ानूनी किताबें समझना आसान हो जाता है, और 'रोमन लो' की परीक्षा में एक प्रश्नपत्र तो केवल लैटिन भाषा में ही होता है। इसके सिवाय, लैटिन जानने से अंग्रेज़ी भाषा पर प्रभुत्व बढ़ता है।" इन सब दलीलों का मुझ पर असर हुआ। मैंने सोचा, मुश्किल हो चाहे न हो, पर लैटिन तो सीख ही लेनी है। फ्रेंच की शुरू की हुई पढ़ाई को पूरा करना है। इसलिए निश्चय किया कि दूसरी भाषा फ्रेंच हो। मेट्रिक्युलेशन का एक प्राइव्हेट वर्ग चलता था। उसमें भरती हो गया। हर छठे महीने परीक्षा होती थी। मेरे पास मुश्किल से पाँच महीने का समय था। यह काम मेरे बूते के बाहर था। परिणाम यह हुआ कि सभ्य बनने की जगह मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। समय-पत्रक बनाया। एक-एक मिनट का उपयोग किया। पर मेरी बुद्धि या स्मरण-शक्ति ऐसी नहीं थी कि दूसरे विषयों के अतिरिक्त लैटिन और फ्रेंच की तैयारी कर सकूँ। परीक्षा में बैठा। लैटिन में फेल हो गया। दुःख तो हुआ, पर हिम्मत नहीं हारा। लैटिन में रूचि पैदा हो गयी थी। मैंने सोचा कि दूसरी बार परीक्षा में बैठने से फ्रेंच अधिक अच्छी हो जाएँगी और विज्ञान में नया विषय ले लूँगा। प्रयोगों के अभाव में रसायनशास्त्र मुझे रुचता ही न था। यद्यपि अब देखता हूँ कि उसमें खूब रस आना चाहिए था। इसलिए लन्दन की मैट्रिक के लिए भी पहली बार इसी को पसन्द किया था। इस बार प्रकाश और उष्णता (Light और Heat) का विषय लिया। यह विषय आसान माना जाता था। मुझे भी आसान प्रतीत हुआ।

पुनः परीक्षा देने की तैयारी के साथ ही रहन-सहन में अधिक सादगी लाने का प्रयत्न शुरू किया। मैंने अनुभव किया कि अभी मेरे कुटुम्ब की ग़रीबी के अनुरूप मेरा जीवन सादा नहीं बना है। भाई की तंगी के और उनकी उदारता के विचारों ने मुझे व्याकुल बना दिया। ज़रूरत पडने पर वे पैसे अवश्य भेज ही देते थे। जो लोग हर महीने १५ पौण्ड या ८ पौण्ड खर्च करते थे, उन्हें तो छात्रवृत्तियाँ मिलती थीं। मैं देखता था कि मुझसे भी अधिक सादगी से रहने वाले लोग हैं। मैं ऐसे ग़रीब विद्यार्थियों के संपर्क में ठीक-ठीक आया था। एक विद्यार्थी लन्दन की ग़रीब बस्ती में हफ़्ते के दो शिलिंग देकर एक कोठरी में रहता था, और लोकार्ट की कोको की सस्ती दुकान में दो पेनी

का कोको और रोटी खाकर अपना गुजारा करता था। उससे स्पर्धा करने की तो मेरी शक्ति नहीं थी, पर मैंने अनुभव किया कि मैं अवश्य ही दो के बदले एक कमरे में रह सकता हूँ और आधी रसोई अपने हाथ से भी बना सकता हूँ। इस प्रकार मैं हर महीने चार या पाँच पौण्ड में अपना निर्वाह कर सकता हूँ। सादी रहन-सहन पर पुस्तकें भी पढ़ चुका था। दो कमरे छोड़ दिये और हफ़्ते के आठ शिलिंग पर एक कमरा किराये से लिया। एक अंगीठी खरीदी और सुबह का भोजन हाथ से बनाना शुरू किया। इसमें मुश्किल से बीस मिनट खर्च होते थे। ओटमील की लपसी बनाने और कोको के लिए पानी उबालने में कितना समय लगता? दोपहर का भोजन बाहर कर लेता और शाम को फिर कोको बनाकर रोटी के साथ खा लेता। इस तरह मैं एक से सवा शिलिंग के अन्दर रोज़ के अपने भोजन की व्यवस्था करना सीख गया। जीवन सादा बन जाने से समय अधिक बचा। दूसरी बार परीक्षा में बैठा और पास हुआ।

पर पाठक यह न मानें कि सादगी से मेरा जीवन नीरस बना होगा। उलटे, इन फेरफारों के कारण मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थिति के बीच एकता पैदा हुई, कौटुम्बिक स्थिति के साथ मेरी रहन-सहन का मेल बैठा, जीवन अधिक सारमय बना और मेरे आत्मानन्द का पार न रहा।

घर से मिठाई-मसाले बगैरा जो मँगाये थे, सो लेने बन्द कर दिये, और मनने दूसरा मोड़ पकड़ा। इस कारण मसालों का प्रेम कम पड़ गया, और जो सब्जी रिचमंड में मसाले के अभाव में बेस्वाद मालूम होती थी, वह अब सिर्फ़ उबाली हुई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवों से मैंने यह सीखा कि स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नहीं, पर मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उन दिनों एक पंथ ऐसा था, जो चाय-कोफी को हानिकारक मानता था और कोको का समर्थन करता था। मैं यह समझ चुका था कि केवल उन्हीं वस्तुओं का सेवन करना योग्य है, जो शरीर-व्यापार के लिए आवश्यक हैं। इस कारण मुख्यतः मैंने चाय और कोफी का त्याग किया और कोको को अपनाया।

प्रयोगों के साथ उप-प्रयोग तो बहुत हुए। कभी स्टार्च वाला आहार छोड़ा, कभी सिर्फ़ ड़ाल-रोटी और फल पर ही रहा, और कभी पनीर, दूध और अंडों का ही सेवन किया।

यह आख़िरी प्रयोग उल्लेखनीय है। यह पन्द्रह दिन भी नहीं चला। स्टार्च-रहित आहार का समर्थन करने वालों ने अंडों की खूब स्तुति की थी और यह सिद्ध किया था कि अंडे माँस नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि अंडे खाने में किसी जीवित प्राणी को दुःख नहीं पहुँचता। इस दलील के भुलावे में आकर मैंने माताजी के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा के रहते भी अंडे खाये, पर मेरा वह मोह क्षणिक था। प्रतिज्ञा का नया अर्थ करने का मुझे अधिकार न था। अर्थ तो प्रतिज्ञा कराने वाली माता का ही माना जा सकता था। माँस न खाने की प्रतिज्ञा कराने वाली माता को अंडों का तो ख़याल ही नहीं हो सकता था, इसे मैं जानता था। इस कारण प्रतिज्ञा के रहस्य का बोध होते ही मैंने अंडे छोड़े और प्रयोग भी छोड़ा।

इस समय तक के मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्य की दृष्टि से होते थे। विलायत में उन्होंने धार्मिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया था। धार्मिक दृष्टि से मेरे कठिन प्रयोग दक्षिण अफ़्रीका में हुए, जिनकी छान-बीन आगे करनी होगी।

मुझमें नवधर्मी का जोश आ गया था। इस कारण उस समय मैं जिस बस्ती में रहता था, उसमें मैंने अन्नाहारी मण्डल की स्थापना करने का निश्चय किया। इस बस्ती का नाम बेजवोटर था। इसमें सर एडविन आर्नल्ड रहते थे। मैंने उन्हें उपसभापति बनने को निमंत्रित किया। वे बने। डो. ओल्डफील्ड सभापति बने। मैं मंत्री बना। यह संस्था कुछ समय तक तो अच्छी चली; पर कुछ महीनों के बाद इसका अन्त हो गया, क्योंकि मैंने अमुक मुद्दत के बाद अपने रिवाज के अनुसार वह बस्ती छोड़ दी। पर इस छोटे और अल्प अवधि के अनुभव से मुझे संस्थाओं का निर्माण करने और उन्हें चलाने का कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

१३. लज्जाशीलता - मेरी ढाल

अन्नाहारी मण्डल की कार्यकारिणी में मुझे चुन तो लिया गया था और उसमें मैं हर बार हाज़िर भी रहता था, पर बोलने के लिए जीभ खुलती ही न थी।

मैं कह सकता हूँ कि मेरा यह शरमीला स्वभाव दक्षिण अफ़्रीका पहुँचने पर ही दूर हुआ। बिलकुल दूर हो गया, ऐसा तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलने से बचा जा सके, तो ज़रूर बच जाता हूँ। बिना पूर्व तैयारी के बोलना यह मेरे लिए असंभव था। अपने इस शरमीले स्वभाव के कारण मेरी फज़ीहत तो हुई, पर मेरा कोई नुक़सान नहीं हुआ; बल्कि अब तो मैं देख सकता हूँ कि मुझे फायदा हुआ है। पहले बोलने का यह संकोच मेरे लिए दु:खकर था, अब वह सुखकर हो गया है। एक बड़ा फ़ायदा तो यह हुआ कि मैं शब्दों का मितव्यय करना सीखा।

अनुभव ने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्य के प्रत्येक पुजारी के लिए मौन का सेवन इष्ट है। मनुष्य जाने-अनजाने भी प्राय: अतिशयोक्ति करता है, अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है, या दूसरे ढंग से कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिए भी मितभाषी होना आवश्यक है। कम बोलने वाला बिना बिचारे नहीं बोलेगा; वह अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा। अकसर मनुष्य बोलने के लिए अधीर हो जाता है। इन सब लोगों के बोलने से दुनिया को लाभ होता हो, ऐसा क्वचित् ही पाया जाता है। पर उतने समय की बरबादी तो स्पष्ट ही देखी जा सकती है। इसलिए यद्यपि आरम्भ में मुझे अपनी लज्जाशीलता दु:ख देती थी, यह लज्जाशीलता मेरी ढाल थी। उससे मुझे परिपक्व बनने का लाभ मिला। सत्य की अपनी पूजा में मुझे उससे सहायता मिली।

१४. असत्यरूपी विष

चालीस साल पहले विलायत जाने वाले हिन्दुस्तानी विद्यार्थी आज की तुलना में कम थे। स्वयं विवाहित होने पर भी अपने को कुँआरा बताने का उनमें रिवाज-सा पड़ गया था। उस देश में स्कूल या कोलेज में पढ़ने वाले कोई विद्यार्थी विवाहित नहीं होते। विवाहित के लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। भारत के युवकों को यह स्वीकार करते हुए शरम मालूम होती है कि वे विवाहित हैं। विवाह की बात छिपाने का दूसरा एक कारण यह है कि अगर विवाह प्रकट हो जाये, तो जिस कुटुम्ब में रहते हैं उसकी जवान लड़कियों के साथ घूमने-फिरने और हँसी-मज़ाक करने का मौक़ा नहीं मिलता । यह हँसी-मज़ाक अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरह की मित्रता पसन्द भी करते हैं। वहाँ युवक और युवतियों के बीच ऐसे सहवास की आवश्यकता भी मानी जाती है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक युवक को अपनी सहधर्मचारिणी स्वयं खोज लेनी होती है। अतएव विलायत में जो सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाता है, उसे हिन्दुस्तान का नवयुवक विलायत पहुँचते ही जोड़ना शुरू कर दे, तो परिणाम भयंकर ही होगा। कई बार ऐसे परिणाम प्रकट भी हुए हैं। फिर भी हमारे नवयुवक इस मोहिनी माया में फँसे पड़े थे। हमारे नवयुवकों ने उस सोहबत के लिए असत्याचरण पसन्द किया, जो अंग्रेज़ों की दृष्टि से कितनी ही निर्दोष होते हुए भी हमारे लिए त्याज्य है। इस फँदे में मैं भी फंस गया। विवाहित और एक लड़के का बाप होते हुए भी मैंने अपने को कुँआरा बताने में संकोच नहीं किया! पर इसका स्वाद मैंने थोड़ा ही चखा।

बेंटनर में जिस परिवार में मैं रहता था, वैसे परिवार में घर की बेटी हो तो वह, सभ्यता के विचार से ही सही, मेरे समान विदेशी को घूमने ले जाती। मालकिन की लड़की मुझे बेंटनर के आसपास की सुन्दर पहाड़ियों पर ले गयी। वैसे मेरी चाल कुछ धीमी नहीं थी, पर उसकी चाल मुझसे भी तेज़ थी। इसलिए मुझे उसके पीछे पीछे घसिटना पड़ा। वह तो रास्तेभर बातों के फव्वारे उड़ाती चली, जब कि मेरे मुँह से कभी 'हाँ' या कभी 'ना' की आवाज़ भर निकलती थी। बहुत हुआ तो 'कितना सुन्दर है!' कह दिता। इससे ज़्यादा बोल न पाता। वह तो हवा में उड़ती जाती और मैं यह सोचता रहता कि वापस घर कब पहुँचूँगा। इतने में हम एक पहाड़ी की चोटी पर जा

खड़े हुए। पर अब उतरा कैसे जाये? अपने ऊँची एड़ी वाले बूटों के बावजूद बीस-पचीस साल की वह रमणी बिजली की तरह ऊपर से नीचे उतर गयी, जब कि मैं शरमिंदा होकर अभी यही सोच रहा था कि ढाल कैसे उतरा जाएँ! वह नीचे खड़ी हँसती है; मुझे हिम्मत बँधाती है; ऊपर आकर हाथ का सहारा देकर नीचे ले जाने को कहती है! मैं इतना पस्तहिम्मत तो कैसे बनता? मुश्किल से पैर जमाता हुआ, कहीं कुछ बैठता हुआ, मैं नीचे उतरा। उसने मज़ाक में 'शा . . . ब्बा.. . श!' कहकर मुझ शरमाये हुए को और अधिक शरमिंदा किया। इस तरह के मज़ाक से मुझे शरमिंदा करने का उसे हक था।

लेकिन हर जगह मैं इस तरह कैसे बच पाता? ईश्वर मेरे अन्दर से असत्य का विष निकालना चाहता था। बेंटनर की तरह ही ब्राइटन भी समुद्र-किनारे हवाखोरी का मुकाम है। एक बार मैं वहाँ गया था। जिस होटल में मैं ठहरा था, उसमें साधारण खुशहाल स्थिति की एक विधवा बुढ़िया भी हवाखोरी के लिए आकर टिकी थी। यह मेरा पहले वर्ष का समय था – बेंटनर के पहले का। यहाँ सूची में खाने की सभी चीज़ों के नाम फ्रेंच भाषा में लिखे थे। मैं उन्हें समझता न था। मैं बुढ़िया वाली मेज़ पर ही बैठा था। बुढ़ियाने देखा कि में अजनबी हूँ और कुछ परेशानी में भी हूँ। तुरन्त ही वह सहायता के लिए आई।

"तुम अजनबी-से मालूम होते हो। किसी परेशानी में भी हो। अभी तक कुछ खाने को भी नहीं मँगाया है!"

मैं भोजन के पदार्थों की सूची पढ़ रहा था और परोसने वाले से पूछने की तैयारी कर रहा था। इसलिए मैंने उस भद्र महिला को धन्यवाद दिया और कहा, "यह सूची मेरी समझ में नहीं आ रही है। मैं अन्नाहारी हूँ। इसलिए यह जानना ज़रूरी है कि इनमें से कौनसी चीज़ें निर्दोष हैं।"

उस महिला ने कहा, "तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और सूची समझा देती हूँ। तुम्हारे खाने लायक चीज़ें मैं तुम्हें बता सकूँगी।"

मैंने धन्यवादपूर्वक उसकी सहायता स्वीकार की। यहाँ से हमारा जो सम्बन्ध जुड़ा, सो मेरे विलायत में रहने तक और उसके बाद भी बरसों तक बना रहा। उसने मुझे लन्दन का अपना पता

दिया और हर रविवार को अपने घर भोजन के लिए आने को न्योता। वह दूसरे अवसरों पर भी मुझे अपने यहाँ बुलाती थी, प्रयत्न करके मेरा शरमीलापन छुड़ाती थी, जवान स्त्रियों से जान-पहचान कराती थी और उनसे बातचीत करने को ललचाती थी। उसके घर रहने वाली एक स्त्री के साथ बहुत बातें करवाती थी। कभी-कभी हमें अकेला भी छोड़ देती थी।

आरम्भ में मुझे यह सब बहुत कठिन लगा। बात करना सूझता न था। विनोद भी क्या किया जाए! पर वह बुढ़िया मुझे प्रवीण बनाती रही। मैं तालीम पाने लगा। हर रविवार की राह देखने लगा। उस स्त्री के साथ बातें करना भी मुझे अच्छा लगने लगा।

बुढ़िया भी मुझे लुभाती जाती। उसे इस संग में रस आने लगा। उसने तो हम दोनों का हित ही चाहा होगा।

अब मैं कया करूँ? मैंने सोचा : 'क्या यह अच्छा होता, अगर मैं इस भद्र महिला से अपने विवाह की बात कह देता? उस दशा में क्या वह चाहती कि किसी के साथ मेरा ब्याह हो? अब भी देर नहीं हुई है। मैं सच-सच कह दूँ, तो अधिक संकट से बच जाऊँगा।' यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। अपनी स्मृति के आधार पर नीचे उसका सार देता हूँ :

“जबसे हम ब्राइटन में मिले, आप मुझ पर प्रेम रखती रही हैं। माँ जिस तरह अपने बेटे की चिन्ता रखती है, उसी तरह आप मेरी चिन्ता रखती हैं। आप तो यह भी मानती हैं कि मुझे ब्याह करना चाहिए, और इसी ख़याल से आप मेरा परिचय युवतियों से कराती हैं। ऐसे सम्बन्ध के अधिक आगे बढ़ने से पहले ही मुझे आपसे यह कहना चाहिए कि मैं आपके प्रेम के योग्य नहीं हूँ। मैं आपके घर आने लगा तभी मुझे आप से यह कह देना चाहिए था कि मैं विवाहित हूँ। में जानता हूँ कि हिन्दुस्तान के जो विद्यार्थी विवाहित होते हैं, वे इस देश में अपने ब्याह की बात प्रकट नहीं करते। इससे मैंने भी उस रिवाज का अनुकरण किया। पर अब मैं देखता हूँ कि मुझे अपने विवाह की बात बिलकुल छिपानी नहीं चाहिए थी। मुझे साथ में यह भी कह देना चाहिए कि मेरा ब्याह बचपन में हुआ है और मेरे एक लड़का भी है। आप से इस बात को छिपाने का अब मुझे बहुत दुःख होता है; पर अब भगवान ने सच कह देने की हिम्मत दी है, इससे मुझे आनन्द होता है। क्या

आप मुझे माफ़ करेंगी? जिस बहन के साथ आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित छूट नहीं ली, इसका विश्वास मैं आपको दिलाता हूँ। मुझे इस बात का पूरा-पूरा ख़याल है कि मुझे ऐसी छूट नहीं लेनी चाहिए। पर आप तो स्वाभाविक रूप से यह चाहती हैं कि किसी के साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाए। आपके मन में यह बात आगे न बढ़े, इसके लिए भी मुझे आपके सामने सत्य प्रकट कर देना चाहिए।

"यदि इस पत्र के मिलने पर आप मुझे अपने यहाँ आने के लिए अयोग्य समझेंगी, तो मुझे उससे जरा भी बुरा नहीं लगेगा। आपकी ममता के लिए तो मैं आपका चिरऋणी बन चुका हूँ। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि अगर आप मेरा त्याग न करेंगी, तो मुझे खुशी होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने घर आने योग्य मानेंगी, तो उसे मैं आपके प्रेम की एक नई निशानी समझूँगा और उस प्रेम के योग्य बनने का सदा प्रयत्न करता रहूँगा।"

पाठक समझ लें कि यह पत्र मैंने क्षणभर में नहीं लिख डाला था। न जाने कितने मसविदे तैयार किये होंगे। पर यह पत्र भेजकर मैंने अपने सर का एक बड़ा बोझ उतार डाला।

लगभग लौटती डाक से मुझे उस विधवा बहन का उत्तर मिला। उसने लिखा था :

"खुले दिल से लिखा तुम्हारा पत्र मिला। हम दोनों खुश हुईं और खूब हसीं । तुमने जिस असत्य से काम लिया, वह तो क्षमा के योग्य ही है। पर तुमने अपनी सही स्थिति प्रकट कर दी यह अच्छा ही हुआ। मेरा न्योता कायम है। अगले रविवार को हम अवश्य तुम्हारी राह देखेंगे, तुम्हारे बाल-विवाह की बातें सुनेंगे और तुम्हारा मज़ाक उड़ाने का आनन्द भी लूटेंगे। विश्वास रखो कि हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही रहेगी।"

इस प्रकार मैंने अपने अन्दर घुसे हुए असत्य के विष को बाहर निकाल दिया, और फिर तो अपने विवाह आदि की बात करने में मुझे कहीं घबराहट नहीं हुई।

बहुत करके मेरे विलायत-निवास के आखिरी साल में, यानी १८९० के साल में पोर्टस्मथ में अन्नाहारियों का एक संमेलन हुआ था। उसमें मुझे और एक हिन्दुस्तानी मित्र को निमंत्रित किया गया था।

पोर्टस्मथ खलासियों का बन्दरगाह कहलाता है। वहाँ बहुतेरे घर दुराचारिणी स्त्रियों के होते हैं। वे स्त्रियाँ वेश्या नहीं होतीं, न निर्दोष ही होती हैं। ऐसे ही एक घर में हम लोग टिके थे। इसका यह मतलब नहीं कि स्वागत-समिति ने जान-बूझकर ऐसे घर ठीक किये थे।

रात पड़ी। हम सभा से घर लौटे। भोजन के बाद ताश खेलने बैठे। विलायत में अच्छे भले घरों में भी इस तरह गृहिणी मेहमानों के साथ ताश खेलने बैठती है। ताश खेलते हुए निर्दोष विनोद तो सब कोई करते हैं। लेकिन यहाँ तो बीभत्स विनोद शुरू हुआ। मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोद में रस आने लगा। मैं भी इसमें शरीक हो गया। वाणी में से क्रिया में उतरने की तैयारी थी। ताश एक तरफ धरे ही जा रहे थे। लेकिन मेरे भले साथी के मन में राम बसे। उन्होंने कहा, "अरे, तुम में यह कलियुग कैसा! तुम्हारा यह काम नहीं है। तुम यहाँ से भागो।"

मैं शरमाया। सावधान हुआ। हृदय में उन मित्र का उपकार माना। माता के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा याद आयी। मैं भागा। काँपता-काँपता अपनी कोटरी में पहुँचा। छाती धड़क रही थी। कातिल के हाथ से बचकर निकले हुए शिकार की जैसी दशा होती है वैसी ही मेरी हुई ।

उन दिनों मैं यह बिलकुल नहीं जानता था कि धर्म क्या है, ईश्वर क्या है, और वह हम में किस प्रकार का काम करता है। उस समय तो लौकिक हैष्टि से मैं यह समझा कि ईश्वर ने मुझे बचा लिया है। मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहीं से मदद आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है, उससे भी अधिक सच यह चीज़ है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है, और सब झूठ हैं।

१५. धर्मों का परिचय

विलायत में रहते मुझे कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियोसोफिस्ट मित्रों से मेरी पहचान हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताजी की चर्चा की। वे एडविन आर्नल्ड का गीताजी का अनुवाद *धी सोंग सिलेश्यल* पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे अपने साथ संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए न्योता। मैं शरमाया, क्योंकि मैंने गीता संस्कृत में या मातृभाषा में (गुजराती में) पढ़ी ही नहीं थी। मुझे उनसे कहना पड़ा कि मैंने गीता पढ़ी ही नहीं है, पर मैं उसे आपके साथ पढ़ने को तैयार हूँ। संस्कृत का मेरा अभ्यास भी नहीं के बराबर ही है। मैं उसे इतना ही समझ पाऊँगा कि अनुवाद में कोई ग़लत अर्थ होगा, तो उसे सुधार सकूँगा। इस प्रकार मैंने उन भाइयों के साथ गीता पढ़ना शुरू किया। दूसरे अध्याय के अंतिम श्लोकों में से

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥[६]

इन श्लोकों का मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। उनकी भनक मेरे कान में गूँजती ही रही। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रंथ है। यह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गयी, और आज तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय में इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है।

इन्हीं भाइयों ने मुझे सुझाया कि मैं आर्नल्ड का बुद्ध-चरित *धी लाईट ओफ एशिया* पढ़ूँ। उस समय तक तो मुझे सर एडविन आर्नल्ड के गीता के अनुवाद का ही पता था। मैंने बुद्ध-चरित भगवद्गीता से भी अधिक रस-पूर्वक पढ़ा। पुस्तक हाथ में लेने के बाद उसे समाप्त करके ही छोड़ सका।

एक बार ये भाई मुझे ब्लैवट्स्की लोज में भी ले गये। वहाँ मैडम ब्लैवट्स्की के और मिसेज एनी बेसेंट के दर्शन कराये। मिसेज बेसेंट हाल ही थियोसोफिकल सोसायटी में दाख़िल हुई थीं।

इससे समाचारपत्रों में इस सम्बन्ध की जो चर्चा चलती थी, उसे मैं दिलचस्पी के साथ पढ़ा करता था। इन भाइयों ने मुझे सोसायटी में दाख़िल होने का भी सुझाव दिया। मैंने नम्रतापूर्वक इनकार किया और कहा, "मेरा धर्मज्ञान नहीं के बराबर है, इसलिए मैं किसी भी पंथ में सम्मिलित होना नहीं चाहता।" मेरा कुछ ऐसा ख़याल है कि इन्हीं भाइयों के कहने से मैंने ब्लैवट्स्की की पुस्तक *की टु थियोसोफी* (थियोसोफी की कुंजी) पढ़ी थी। उससे हिन्दू धर्म की पुस्तकें पढ़ने की इच्छा पैदा हुई और पादरियों के मुँह से सुना हुआ यह ख़याल दिल से निकल गया कि हिन्दू धर्म अन्धविश्वासों से ही भरा हुआ है।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावास में मुझे मैंचेस्टर के एक ईसाई सज्जन मिले। उन्होंने मुझसे धर्म की चर्चा की। मैंने उन्हें राजकोट का अपना संस्मरण सुनाया। वे सुनकर दुःखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूँ। मद्यपान भी नहीं करता। यह सच है कि बहुत से ईसाई माँस खाते हैं और शराब पीते है; पर इस धर्म में दो में से एक भी वस्तु का सेवन करना कर्तव्य-रूप नहीं है। मेरी सलाह है कि आप बाइबल[७] पढ़ें।" मैंने उनकी यह सलाह मान ली। उन्होंने बाइबल खरीद कर मुझे दी। मैंने उसे पढ़ना शुरू किया, पर मैं *पुराना इकरार* (ओल्ड टेस्टामेण्ट) तो पढ़ ही न सका। *जेनेसिस* – सृष्टि-रचना – के प्रकरण के बाद तो पढ़ते समय मुझे नींद ही आ जाती। मुझे याद है कि 'मैंने बाइबल पढ़ी है' यह कह सकने के लिए मैंने बिना रस के और बिना समझे दूसरे प्रकरण बहुत कष्ट-पूर्वक पढ़े थे। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण पढ़ते-पढ़ते मेरा जी उचट गया था।

पर जब 'नये इकरार'[८] (न्यू टेस्टामेण्ट) पर आया, तो कुछ और ही असर हुआ। ईसा के 'गिरि-प्रवचन' का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे मैंने हृदय में बसा लिया। बुद्धि ने गीताजी के साथ उसकी तुलना की। 'जो तुझसे कुर्ता माँगे उसे अंगरखा भी दे-दे', 'जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बायाँ गाल भी उसके सामने कर दे' – यह पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। शामळ भट्ट[९] के छप्पय की याद आ गयी। "जो आपको जल देता है, उसको अच्छा भोजन दे।" आदि मेरे

बालमन ने *गीता*; आर्नल्ड-कृत *बुद्ध-चरित* और ईसा के वचनों का एकीकरण किया। मन को यह बात जँच गयी कि त्याग में धर्म है।

मैं धर्म के इस परिचय से आगे न बढ़ सका। अपनी परीक्षा की पुस्तकों के अलावा दूसरा कुछ पढ़ने की फुरसत मैं नहीं निकाल सका। पर मेरे मनने यह निश्चय किया कि मुझे धर्म-पुस्तकें पढ़नी चाहिए और सब मुख्य धर्मों का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

---

६. विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष को उन विषयों में आसक्ति पैदा होती है। फिर आसक्ति से कामना पैदा होती है और कामना से क्रोध पैदा होता है। क्रोध से मूढ़ता पैदा होती है, मूढ़ता से स्मृति-लोप होता है और स्मृति-लोप से बुद्धि नष्ट होती है । और जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसका खुद का नाश हो जाता है।

७. ईसाईओं का धर्मपुस्तक। यह दो विभागों में बँटा – प्रथम *पुराना इकरार* 'उसमें इसु खिस्त के जन्म से पूर्व के समय के कुछ ग्रंथों का समावेश किया गया है; जिसकी शुरूआत होती है *जेनेसिस – सृष्टिमंडन से* । दूसरा खंड है 'नये इकरार का' इसु खिस्त के जन्म के उपरान्त के समय के ग्रंथो का प्रथम चार ग्रंथों को *गोस्पेल्स* कहे जाते हैं। उसमें इसके जीवन तथा प्रवचनों का संग्रह हैं।

८. इसु का प्रवचन, पहाड पर दिया गया था देखें मेथ्यु, प्र. ५ से ७

९. शामळ भट्ट १८वीं सदी में गुजराती के एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। छप्पय पर उनका जो प्रभुत्व था, उसके कारण गुजरात में यह कहावत प्रचलित हो गयी है कि 'छप्पय तो शामळ के'।

भाग-३ : भारत में बारिस्टर के रूप में

१६. वापस हिन्दुस्तान में

परीक्षायें पास करके मैं १० जून, १८९१ के दिन बारिस्टर कहलाया। ११ जून को ढ़ाई शिलिंग देकर इंग्लैण्ड के हाईकोर्ट में अपना नाम दर्ज कराया और १२ जून को हिन्दुस्तान के लिए रवाना हुआ।

पर मेरी निराशा और मेरे भय की कोई सीमा न थी। मैं वकालात कर सकूँ ऐसा तो मुझे कुछ भी नहीं आता था ऐसा महसूस हुआ। मैंने अनुभव किया कि क़ानून तो मैं निश्चय ही पढ़ चुका हूँ, पर ऐसी कोई भी चीज़ मैंने सीखी नहीं है, जिससे मैं वकालत कर सकूँ।

इतना ही नहीं; बल्कि हिन्दुस्तान के क़ानून तो मैं मुद्दल ही नहीं जानता था। हिन्दु शास्त्र, इस्लामी क़ानून कैसे होंगे यह भी नहीं जानता था; न मैं अरजी दावा करना भी सीखा। मैं तो बहुत ही परेशान हुआ। वकील की हैसियत से आजीविका कमाने की शक्ति प्राप्त करने में भी मुझे महा आशंका उत्पन्न हुई।

एडन से बम्बई के बन्दर में समुद्र तूफ़ानी था। सब लोग बीमार थे, अकेला मैं मौज में था। तूफ़ान देखने के लिए डेक पर खड़ा रहता। भीग भी जाता।

मेरे विचार में बाहर का यह तूफ़ान मेरे अन्दर के तूफ़ान के चिह्नरूप था। पर जिस तरह बाहरी तूफ़ान के रहते मैं शान्त रह सका, मुझे लगता है कि अन्दर के तूफ़ान के लिए भी वही बात कही जा सकती है।

मैं माँ के दर्शनों के लिए अधीर हो रहा था। जब हम घाट पर पहुँचे, मेरे बड़े भाई वहाँ मौजूद ही थे।

माता के स्वर्गवास का मुझे कुछ पता न था। बड़े भाई ने माता के स्वर्गवास के समाचार मुझे नहीं दिये थे। मुझे यह खबर विलायत में ही मिल सकती थी, पर आघात को हलका करने के विचार से बम्बई पहुँचने तक मुझे इसकी कोई खबर न देने का निश्चय बड़े भाई ने कर रखा था।

मैं अपने दु:ख पर पर्दा डालना चाहता हूँ। पिता की मृत्यु से मुझे जो आघात पहुँचा था, उसकी तुलना में माता की मृत्यु की खबर से मुझे बहुत अधिक आघात पहुँचा। मेरे बहुतेरे मनोरथ मिट्टी में मिल गये। पर मुझे याद है कि इस मृत्यु के समाचार सुनकर मैं फूट-फूटकर रोया न था। मैं अपने आँसुओं को भी रोक सका था, और भैंने अपना रोज़ का कामकाज इस तरह शुरू कर दिया था, मानो माता की मृत्यु हुई ही न हो।

१७. संसार-प्रवेश

मेरी समुद्रयात्रा को लेकर जाति का झगड़ा मौजूद ही था। उसमें दो तड़ें पड़ गयी थीं। एक पक्ष ने मुझे तुरन्त जाति में ले लिया। दूसरा पक्ष न लेने पर डटा रहा।

जाति की जिस तड़ से मैं बहिष्कृत रहा, उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया, न मैंने जाति के किसी मुखिया के प्रति मन में कोई रोष रखा। उनके साथ मैं नम्रता का बरताव करता था। जाति के बहिष्कार-सम्बन्धी क़ानून का मैं सम्पूर्ण आदर करता था। अपने सास-ससुर के घर अथवा अपनी बहन के घर मैं पानी तक न पीता था। वे छिपे तौर पर पिलाने को तैयार भी होते, पर जो काम खुले तौर से न किया जा सके, उसे छिपकर करने के लिए मेरा मन ही तैयार न होता था।

मेरे इस व्यवहार का परिणाम यह हुआ कि जाति की ओर से मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया गया। यही नहीं, बल्कि आज तक मैं जाति के एक विभाग में विधिवत् बहिष्कृत माना जाता हूँ, उसके लिए प्रवेश का मैंने कभी प्रयास नहीं किया। तथा जाति के किसी भी शेठ के विरुद्ध मैंने अपने मन में भी रोष की भावना न रखी। मेरे प्रति तिरस्कार से देखने वाले भी समाज में थे उनके प्रति मैं आदर के साथ पेश आता था। मुझसे यह आशा तक नहीं रखी कि जाति के लिए मैं कुछ-न-कुछ करूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि यह मधुर फल मेरे अप्रतिकार का ही परिणाम है। यदि मैंने जाति में सम्मिलित होने की खटपट की होती, अधिक तड़ें पैदा करने का प्रयत्न किया होता, जाति वालों को छेड़ा-चिढ़ाया होता, तो वे अवश्य मेरा विरोध करते और मैं विलायत से लौटते ही उदासीन और अलिप्त रहने के स्थान पर खटपट के फन्दे में फँस जाता और केवल मिथ्यात्व का पोषण करने वाला बन जाता।

राजकोट में तुरन्त धन्धा शुरू करता हूँ, तो हँसी होती है। मेरे पास ज्ञान तो इतना भी न था कि राजकोट में पास हुए वकील के मुकाबले में खड़ा हो सकूँ, तिस पर फीस उससे दस गुनी लेने का दावा! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे काम देता? अथवा कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाये, तो क्या मैं अपने ज्ञान में धृष्टता और विश्वासघात की वृद्धि करके अपने ऊपर संसार का ऋण और बढ़ा लूँ?

मित्रों की सलाह यह रही कि मुझे कुछ समय के लिए बम्बई जाकर हाईकोर्ट की वकालत का अनुभव प्राप्त करना और हिन्दुस्तान के क़ानून का अध्ययन करना चाहिए और कोई मुक़द्दमा मिल सके तो उसके लिए कोशिश करनी चाहिए। मैं बम्बई के लिए रवाना हुआ।

लेकिन मैं चार-पाँच महीने से अधिक बम्बई में रह ही न सकता था, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी।

इतने में मुझे ममीबाई का मुक़द्दमा मिला। स्मोल कोज कोर्ट (छोटी अदालत) में जाना था। मुझसे कहा गया, "दलाल को कमीशन देना पड़ेगा!" मैंने साफ़ इनकार कर दिया।

मैं टस-से-मस न हुआ। कमीशन मैंने नहीं ही दिया। फिर भी ममीबाई का मुक़द्दमा तो मुझे मिला। मुक़द्दमा आसान था। मुझे ब्रीफ के (मेहनताने के) रू ३० मिले। मुक़द्दमा एक दिन से ज़्यादा चलने वाला न था।

मैंने पहली बार स्मोल कोज कोर्ट में प्रवेश किया। मैं प्रतिवादी की तरफ से था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ, पर पैर काँपने लगे। सिर चकराने लगा। मुझे ऐसा लगा, मानों अदालत घूम रही है। सवाल कुछ सूझते ही न थे। जज हँसा होगा। वकीलों को तो मज़ा आया ही होगा। पर मेरी आँखों के सामने तो अंधेरा था – मैं देखता क्या?

मैं बैठ गया। दलाल से कहा, "मुझसे यह मुक़द्दमा नहीं चल सकेगा। आप पटेल को सौंपिये। मुझे दी हुई फीस वापस ले लीजिए।"

पटेल को उसी दिन के ५१ रूपये देकर वकील किया गया। उनके लिए तो वह एक बच्चों का खेल था।

मैं भागा। मुझे याद नहीं कि मुवक्किल जीता या हारा। मैं शरमाया। मैंने निश्चय किया कि जब तक पूरी हिम्मत न आ जाय, कोई मुक़द्दमा न लूँगा!

मैंने सोचा कि मैं शिक्षक का काम तो अवश्य ही कर सकता हूँ। मैंने अंग्रेज़ी का अभ्यास काफ़ी किया था। अतएव मैंने सोचा कि यदि किसी हाईस्कूल में मैट्रिक की कक्षा में अंग्रेज़ी सिखाने का काम मिल जाय तो कर लूँ। खर्च का गड्ढा कुछ तो भरे!

मैंने अखबारों में विज्ञापन पढ़ा : "आवश्यकता है, अंग्रेज़ी शिक्षक की; प्रतिदिन एक घंटे के लिए। वेतन रू॰ ७५।" यह एक प्रसिद्ध हाईस्कूल का विज्ञापन था। मैंने प्रार्थना-पत्र भेजा। मुझे प्रत्यक्ष मिलने की आज्ञा हुई। मैं बड़ी उमंगों के साथ मिलने गया। पर जब आचार्य को पता चला कि मैं बी॰ ए॰ नहीं हूँ, तो उन्होंने मुझे खेदपूर्वक बिदा कर दिया।

"पर मैंने लन्दन की मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है। लैटिन मेरी दूसरी भाषा थी।" मैंने कहा।

"सो ठीक है, पर हमें तो ग्रेज्युएट की ही आवश्यकता है।"

मैं लाचार हो गया। मेरी हिम्मत छूट गयी। बड़े भाई भी चिन्तित हुए। हम दोनों ने सोचा कि बम्बई में अधिक समय बिताना निरर्थक है। मुझे राजकोट में ही जमना चाहिए।

बम्बई से निराश होकर मैं राजकोट पहुँचा। वहाँ अलग दफ़्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जियाँ लिखने का काम मिलने लगा और हर महीने औसत रू. ३०० की आमदानी होने लगी। अर्जी-दावे लिखने का यह काम मुझे मेरी होशियारी के कारण नहीं मिलने लगा था, कारण था वसीला। बड़े भाई के साथ काम करने वाले वकील की वकालत जमी हुई थी। उनके पास जो बहुत महत्त्व के अर्जी-दावे आते अथवा जिन्हें वे महत्त्व का मानते, उनका काम तो बड़े बारिस्टर के पास ही जाता था। उनके ग़रीब मुवक्किलों के अर्जी-दावे लिखने का काम मुझे मिलता था।

१८. पहला आघात

पोरबंदर के भूतपूर्व राणा साहब को गद्दी मिलने से पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उन पर इस आशय का आरोप लगाया गया था कि उन दिनों उन्होंने राणा साहब को ग़लत सलाह दी थी। उस समय के पोलिटिकल एजेण्ट के पास यह शिकायत पहुँची थी और मेरे भाई के बारेमें उनका ख़याल ख़राब हो गया था। इस अधिकारी से मैं विलायत में मिला था। कह सकता हूँ कि वहाँ उन्होंने मुझसे अच्छी दोस्ती कर ली थी। भाई ने सोचा कि इस परिचय का लाभ उठाकर मुझे पोलिटिकल एजेण्ट से दो शब्द कहने चाहिए और उन पर जो ख़राब असर पड़ा है, उसे मिटाने की कोशिश करनी चाहिए। मुझे बात बिलकुल अच्छी न लगी। मैंने सोचा : मुझको विलायत के न-कुछ-से परिचय का लाभ नहीं उठाना चाहिए। अगर मेरे भाई ने कोई बुरा काम किया है, तो सिफ़ारिश से क्या होगा? अगर नहीं किया है, तो वे विधिवत् प्रार्थना-पत्र भेजें अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रखकर निर्भय रहें। यह दलील भाई के गले न उतरी। उन्होंने कहा, "तुम काठियावाड़ को नहीं जानते। दुनियादारी अभी तुम्हें सीखनी है। यहाँ तो वसीले से सारे काम चलते हैं। तुम्हारे समान भाई अपने परिचित अधिकारी से सिफ़ारिश के दो शब्द कहने का मौक़ा आने पर दूर हट जाये, तो यह उचित नहीं कहा जाएगा।"

मैं भाई की इच्छा को टाल नहीं सका। अपनी मर्जी के खिलाफ़ मैं गया। अफ़सर के पास जाने का मुझे कोई अधिकार न था। मुझे इसका ख़याल था कि जाने में मेरा स्वाभिमान नष्ट होगा। फिर भी मैंने उससे मिलने का समय माँगा। मुझे समय मिला और मैं मिलने गया। पुराने परिचय का स्मरण कराया, पर मैंने तुरन्त ही देखा कि विलायत और काठियावाड़ में फ़र्क़ है। अपनी कुर्सी पर बैठे हुए अफ़सर और छुट्टी पर गये हुए अफ़सर में भी फ़र्क़ होता है। अधिकारी ने परिचय की बात मान ली, पर इसके साथ ही वह अधिक अकड़ गया। मैंने उसकी अकड़ में देखा और आँखों में पढ़ा, मानो वे कह रही हों कि 'उस परिचय का लाभ उठाने के लिए तो तुम नहीं आये हो न? यह समझते हुए भी मैंने अपनी बात शुरू की। साहब अधीर हो गये। बोले, "तुम्हारे भाई प्रपंची हैं। मैं तुमसे ज़्यादा बातें सुनना नहीं चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाई को कुछ कहना हो

तो वे विधिवत् प्रार्थना-पत्र दें।" यह उत्तर पर्याप्त था, यथार्थ था। पर ग़रज़ तो बावली होती है न? मैं अपनी बात कहे जा रहा था। साहब उठे, "अब तुम्हें जाना चाहिए।"

मैंने कहा, "पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिए!"

साहब खूब चिढ़ गये। "चपरासी, इसे दरवाज़ा दिखाओ!"

चपरासी ने मुझे हाथ से धक्का देकर दरवाजे के बाहर कर दिया।

साहब गये। चपरासी गया। मैं चला, अकुलाया, खीझा। मैंने तुरन्त एक पत्र घसीटा : "आपने मेरा अपमान किया है। चपरासी के जरिये मुझ पर हमला किया है। आप माफ़ी नहीं मागेंगे, तो मैं आप पर मानहानि का विधिवत् दावा करूँगा।" थोड़ी ही देर में साहब का सवार जवाब दे गया। उसका सार यह था :

"तुमने मेरे साथ असभ्यता का व्यवहार किया। जाने के लिए कहने पर भी तुम नहीं गये, इससे मैंने ज़रूर अपने चपरासी को तुम्हें दरवाज़ा दिखाने के लिए कहा। चपरासी के कहने पर भी तुम दफ़्तर से बाहर नहीं गये, तब उसने तुम्हें दफ़्तर से बाहर कर देने के लिए आवश्यक बल का उपयोग किया। तुम्हें जो करना हो सो करने के लिए तुम स्वतन्त्र हो।"

यह जबाब जेब में डालकर मैं मुँह लटकाये घर लौटा। भाई को सारा हाल सुनाया। वे दुःखी हुए। पर वे मुझे क्या तसल्ली देते? उन्होंने वकील मित्रों से चर्चा की। मैं कौन दावा दायर करना जानता था? उन दिनों सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुक़द्दमे के सिलसिले में बम्बई से राजकोट आये हुए थे। मेरे जैसा नया बारिस्टर उनसे कैसे मिल सकता था? पर उन्हें बुलाने वाले वकील के द्वारा पत्र भेजकर मैंने उनकी सलाह पुछवायी। उनका उत्तर था: "गांधी से कहिये, ऐसे अनुभव तो सब वकील-बारिस्टरों को हुए होंगे। तुम अभी नये ही हो। विलायत की खुमारी अभी तुम पर सवार है। तुम अंग्रेज़ अधिकारियों को पहचानते नहीं हो। अगर तुम्हें सुख से रहना हो और दो पैसे कमाने हों, तो मिली हुई चिट्ठी फाड़ डालो और जो अपमान हुआ है उसे पी जाओ। मामला चलाने से तुम्हें एक पाई का भी लाभ न होगा। उलटे, तुम बरबाद हो जाओगे। तुम्हें अभी जीवन का अनुभव प्राप्त करना है।"

मुझे यह सिखावन ज़हर की तरह कड़वी लगी, पर उस कड़वी घूँट को पी जाने के सिवा और कोई उपाय न था। मैं अपमान को भूल तो न सका, पर मैंने उसका सदुपयोग किया। मैंने नियम बना लिया : "मैं फिर कभी अपने को ऐसी स्थिति में नहीं पड़ने दूँगा, इस तरह किसी की सिफ़ारिश न करूँगा।" इस नियम का मैंने कभी उल्लंघन नहीं किया। इस आघात ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी।

मेरा उक्त अधिकारी के यहाँ जाना अवश्य दोषयुक्त था। पर अधिकारी की अधीरता, उसके रोष और उद्धतता के सामने मेरा दोष छोटा हो गया। दोष का दण्ड चपरासी का धक्का न था।

मेरा ज़्यादातर काम तो उसी की अदालत में रहता था। खुशामद मैं कर ही नहीं सकता था। मैं इस अधिकारी को अनुचित रीत से रिझाना नहीं चाहता था। उसे नालिश की धमकी देकर मैं नालिश न करूँ और उसे कुछ भी न लिखूँ, यह भी मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच मुझे काठियावाड़ के रियासती षड्यंत्रों का भी कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्यों का प्रदेश है। यहाँ मुत्सद्दियों का बड़ा समाज होना स्वाभाविक ही था। राज्यों के बीच सूक्ष्म षड्यंत्र चलते, पदों की प्राप्ति के लिए साज़िशें होतीं, राजा कच्चे कान का और परवश रहता। साहबों के अर्दलियों तक की खुशामद की जाती। सरिश्तेदार तो साहब से भी सवाया होता; सरिश्तेदार की इच्छा ही क़ानून थी। सरिश्तेदार की आमदनी साहब की आमदनी से ज़्यादा मानी जाती थी। संभव है, इसमें अतिशयोक्ति हो, पर सरिश्तेदार के अल्प वेतन की तुलना में उसका खर्च अवश्य ही अधिक होता था।

यह वातावरण मुझे विष-सा प्रतीत हुआ। मैं अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कैसे कर सकूँगा, इसकी चिन्ता बराबर बनी रहती। मैं उदासीन हो गया। भाई ने मेरी उदासीनता देखी। एक विचार यह आया कि कहीं नौकरी कर लूँ, तो मैं इन खटपटों से मुक्त रह सकता हूँ। पर बिना खटपट के दीवान का या न्यायाधीश का पद कैसे मिल सकता था?

वकालत करने में साहब के साथ का झगड़ा बाधक बनता था।

मैं अकुलाया।

इसी बीच भाई के पास पोरबंदर की एक मेमन फर्म का संदेशा आया : "दक्षिण अफ़्रीका में हमारा व्यापार है। हमारी फर्म बड़ी है। वहाँ हमारा एक बड़ा मुक़द्दमा चल रहा है। चालीस हज़ार पौंड का दावा है। मामला बहुत लम्बे समय से चल रहा है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे वकील-बारिस्टर हैं। अगर आप अपने भाई को भेजें, तो वे हमारी मदद करें और उन्हें भी कुछ मदद मिल जाएँ। वे हमारा मामला हमारे वकील को अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा वे नया देश देखेंगे और कई नये लोगों से उनकी जान-पहचान होगी।"

मैंने पूछा, "आप मेरी सेवायें कितने समय के लिए चाहते हैं? आप मुझे वेतन क्या देंगे?"

"हमें एक साल से अधिक आपकी ज़रूरत नहीं रहेगी। आपको पहले दर्जे का मार्गव्यय देंगे और निवास तथा भोजन-खर्च के अलावा १०५ पौंड देंगे।"

इसे वकालत नहीं कह सकते। यह नौकरी थी। पर मुझे तो जैसे भी बने हिन्दुस्तान छोड़ना था। नया देश देखने को मिलेगा और अनुभव प्राप्त होगा सो अलग। भाई को १०५ पौंड भेजूँगा तो घर का खर्च चलाने में कुछ मदद होगी। यह सोचकर मैंने वेतन के बारे में बिना कुछ झिक-झिक किये ही सेठ अब्दुल करीम का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मैं दक्षिण अफ़्रीका जाने के लिए तैयार हो गया।

भाग-४ : दक्षिण अफ़्रीका में

१९. दक्षिण अफ़्रीका पहुँचा

नाताल के बन्दरगाह को डरबन कहते हैं और वह नाताल बन्दर के नाम से भी पहचाना जाता है। मुझे लेने के लिए अब्दुल्ला सेठ आये थे। स्टीमर के घाट (डक) पर पहुँचने पर जब नाताल के लोग अपने मित्रों को लेने स्टीमर पर आये, तभी मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियों की अधिक इज्जत नहीं है। अब्दुल्ला सेठ को पहचानने वाले उनके साथ जैसा बरताव करते थे, उसमें भी मुझे एक प्रकार की असभ्यता दिखायी पड़ी थी, जो मुझे व्यथित करती थी। अब्दुल्ला सेठ इस असभ्यता को सह लेते थे। वे उसके आदी बन गये थे। मुझे जो देखते वे कुछ कुतूहल की दृष्टि से देखते थे। अपनी पोशाक के कारण मैं दूसरे हिन्दुस्तानियों से कुछ अलग पड़ जाता था। मैंने उस समय 'फ्रोक कोट' बगैरा पहने थे और सिर पर बंगाली ढंग की पगड़ी पहनी थी।

अब्दुल्ला सेठ मुझे घर ले गये। उनके कमरे की बगल में एक कमरा था, वह उन्होंने मुझे दिया। न वे मुझे समझते, और न मैं उन्हें समझता। उन्होंने अपने भाई के दिये हुए पत्र पढ़े और वे ज़्यादा घबराये। उन्हें जान पड़ा कि भाई ने तो उनके घर एक सफेद हाथी ही बाँध दिया है। मेरी साहबी रहन-सहन उन्हें खर्चीली मालूम हुई। उस समय मेरे लिए कोई खास काम न था। उनका मुक़द्दमा तो ट्रान्सवाल में चल रहा था। मुझे तुरन्त वहाँ भेजकर क्या करते? इसके अलावा, मेरी होशियारी या ईमानदारी का विश्वास भी किस हद तक किया जाएँ? प्रिटोरिया में वे मेरे साथ रह नहीं सकते थे। प्रतिवादी प्रिटोरिया में रहता था। मुझ पर उसका अनुचित प्रभाव पड़ जाये तो क्या हो? यदि वे मुझे इस मुक़द्दमे का काम न सौंपे, तो दूसरे काम तो उनके कारकुन मुझसे बहुत अच्छा कर सकते थे। कारकुनों से गलती हो तो उन्हें उलाहना दिया जा सकता था, पर मैं ग़लती करूँ तो? अतएव यदि मुक़द्दमे का काम न सौंपा जाता, तो मुझे घर बैठे खिलाने की नौबत आती।

अब्दुल्ला सेठ बहुत कम पढ़े-लिखे थे, पर उनके पास अनुभव का ज्ञान बहुत था। उनकी बुद्धि तीव्र थी और स्वयं उन्हें इसका भान था। बातचीत करने लायक अंग्रेज़ी का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पर अपनी इस अंग्रेज़ी के द्वारा वे अपना सब काम निकाल लेते थे। वे बैंक के मैनेजरों

से बातचीत करते थे, यूरोपियन व्यापारियों के साथ सौदे कर लेते थे और वकीलों को अपने मामले समझा सकते थे। हिन्दुस्तानी उनकी बहुत इज्जत करते थे। उन दिनों उनकी फर्म हिन्दुस्तानियों की फर्मो में सबसे बड़ी, अथवा बड़ी फर्मो में एक तो थी ही।

वे दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबन की अदालत दिखाने ले गये। वहाँ कुछ जान-पहचान करायी। अदालत में मुझे अपने वकील के पास बैठाया। मजिस्ट्रेट मुझे बार-बार देखता रहा। उसने मुझे पगड़ी उतारने के लिए कहा। मैंने इनकार किया और अदालत छोड़ दी।

मेरे भाग्य में यहाँ भी लड़ाई ही बदी थी।

मैंने पगड़ी के किस्से को लेकर अपने और पगड़ी के बचाव में समाचारपत्रों के नाम एक पत्र लिखा। अखबारों में मेरी पगड़ी की खूब चर्चा हुई। 'अनवेलकम विज़िटर' – अवांछित अतिथि – शीर्षक से अखबारों में मेरी चर्चा हुई, और तीन- चार दिन के अंदर ही मैं अनायास दक्षिण अफ़्रीका में प्रसिद्धि पा गया। किसीने मेरा पक्ष लिया और किसीने मेरी धृष्टता की खूब निन्दा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग दक्षिण अफ़्रीका में अन्त तक बनी रही।

२०. प्रिटोरिया जाते हुए

इतने में फर्म के वकील की तरफ से पत्र मिला कि मुक़द्दमे की तैयारी की जानी चाहिए और खुद अब्दुल्ला सेठ को प्रिटोरिया जाना चाहिए अथवा किसीको वहाँ भेजना चाहिए।

अब्दुल्ला सेठ ने वह पत्र मुझे पढ़ने को दिया और पूछा, "आप प्रिटोरिया जाएँगे?" मैंने कहा, "मुझे मामला समझाइये, तभी कुछ कह सकूँगा। अभी तो मै नहीं जानता कि मुझे वहाँ क्या करना होगा।" उन्होंने अपने मुनीमों से कहा कि वे मुझे मामला समझा दें।

मैं सातवें या आठवें दिन डरबन से रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दर्जे का टिकट कटाया गया। वहाँ रेल में सोने की सुविधा के लिए पाँच शिलिंग की अलग टिकट कटाना होता था। अब्दुल्ला सेठ ने उसे कटाने का आग्रह किया, पर मैंने हठवश, अभिमानवश और पाँच शिलिंग बचाने के विचार से बिस्तर का टिकट कटाने से इनकार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठ ने मुझे चेताया, "देखिये, यह देश दूसरा है, हिन्दुस्तान नहीं है। खुदा की मेहरबानी है। आप पैसे की कंजूसी न कीजिए। आवश्यक सुविधा प्राप्त कर लीजिए।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और निश्चिन्त रहने को कहा ।

ट्रेन लगभग नौ बजे नाताल की राजधानी मेरित्सबर्ग पहुँची । यहाँ बिस्तर दिया जाता था। रेलवे के किसी नौकर ने आकर पूछा, "आपको बिस्तर की ज़रूरत है?"

मैंने कहा, "मेरे पास अपना बिस्तर है।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी तरफ देखा। मुझे भिन्न वर्ण का पाकर वह परेशान हुआ, बाहर निकला और एक-दो अफ़सरों को लेकर आया। किसीने मुझे कुछ न कहा। आख़िर एक अफ़सर आया। उसने कहा, "इधर आओ । तुम्हें आख़िरी ड़िबे में जाना है।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दर्जे का टिकट है।"

उसने जवाब दिया, "इसकी कोई बात नहीं । मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आख़िरी ड़िबे में जाना है ।

"में कहता हूँ कि मुझे इस ड़िबे में डरबन से बैठाया गया है और मैं इसीमें जाने का इरादा रखता हूँ ।"

अफसर ने कहा, "यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा, और न उतरे तो सिपाही उतारेगा।"

मैंने कहा, "तो फिर सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नहीं उतरूँगा।"

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार लिया। मैंने दूसरे ड़िबे में जाने से इनकार कर दिया। ट्रेन चल दी । मैं वोटिंग रूम में बैठ गया । अपना "हैण्ड-बैग" साथ में रखा । बाकी सामान को हाथ न लगाया । रेलवे वालों ने उसे कहीं रख दिया । सरदी का मौसम था । दक्षिण अफ़्रीका की सरदी ऊँचाई वाले प्रदेशों में बहुत तेज होती है । मेरित्सबर्ग इसी प्रदेश में था । इससे ठण्ड खूब लगी । मेरा ओवर-कोट मेरे सामान में था । पर सामान माँगने की हिम्मत न हुई। फिर अपमान हो तो? ठण्ड से मैं काँपता रहा। कमरे में दीया न था। आधी रात के करीब एक यात्री आया। जान पड़ा कि वह कुछ बात करना चाहता है, पर मैं बात करने की मनःस्थिति में न था।

मैंने अपने धर्म का विचार किया : 'या तो मुझे अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए या लौट जाना चाहिए, नहीं तो जो अपमान हों उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुँचना चाहिए और मुक़द्दमा खतम करके देश लौट जाना चाहिए। मुक़द्दमा अधूरा छोड़कर भागना तो नामर्दी होगी। मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है, सो तो ऊपरी कष्ट है। वह गहराई तक पैठे हुए महारोग का लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि मुझमें इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति हो, तो उस शक्ति का उपयोग मुझे करना चाहिए। ऐसा करते हुए स्वयं जो कष्ट सहने पड़ें सो सब सहने चाहिए और उनका विरोध रंग-द्रेष को मिटाने की दृष्टि से ही करना चाहिए।'

यह निश्चय करके मैंने दूसरी ट्रेन में, जैसे भी हो, आगे ही जाने का फ़ैसला किया।

सबेरे ही सबेरे मैंने जनरल मैनेजर को शिकायत का लम्बा तार भैजा। दादा अब्दुल्ला को भी खबर भेजी। अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजर से मिले। जनरल मैनेजर ने अपने आदमियों

के व्यवहार का बचाव किया, पर बतलाया कि मुझे बिना किसी रुकावट के मेरे स्थान तक पहुँचाने के लिए स्टेशन-मास्टर को कह दिया गया है। अब्दुल्ला सेठ ने मेरित्सबर्ग के हिन्दू व्यापारियों को भी मुझसे मिलने और मेरी सुख-सुविधा का ख़याल रखने का तार भेजा और दूसरे स्टेशनों पर भी इसी आशय के तार रवाना किये। इससे व्यापारी मुझे मिलने स्टेशन पर आये। उन्होंने अपने ऊपर पड़ने वाले कष्टों की कहानी मुझे सुनायी और मुझसे कहा कि आप पर जो बीती है, उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जब हिन्दुस्तानी लोग पहले या दूसरे दर्जे में सफ़र करते हैं, तो अधिकारियों और यात्रियों की तरफ से रुकावट खड़ी होती ही है। दिन ऐसी ही बातें सुनने में बीता। रात पड़ी। ट्रेन आयी। मेरे लिए जगह तैयार ही थी। बिस्तर का जो टिकट मैंने डरबन में कटाने से इनकार किया था, वह मेरित्सबर्ग में कटाया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउन की ओर ले चली।

ट्रेन सुबह चार्ल्सटाउन पहुँचती थी। उन दिनों चार्ल्सटाउन से जोहानिसबर्ग पहुँचने के लिए ट्रेन नहीं थी, घोड़ों की सिकरम थी और बीच में एक रात स्टैण्डरटन में रुकना पड़ता था। मेरे पास सिकरम का टिकट था। मेरे एक दिन देर से पहुँचने के कारण वह टिकट रद नहीं होता था। इसके सिवा, अब्दुल्ला सेठ ने सिकरम वाले के नाम चार्ल्सटाउन के पते पर तार भी कर दिया था। पर एजन्ट को तो बहाना ही खोजना था, इसलिए मुझे निरा अजनबी समझकर उसने कहा, “आपका टिकट तो रद हो चुका है।” मैंने उचित उत्तर दिया। पर टिकट रद होने की बात तो मुझे दूसरे ही कारण से कही गयी थी। यात्री सब सिकरम के अन्दर ही बैठते थे। लेकिन मैं तो 'कुली' की गिनती में था। अजनबी दिखाई पड़ता था। इसलिए सिकरम वाले की नीयत यह थी कि मुझे गोरे यात्रियों के पास न बैठाना पड़े तो अच्छा हो। सिकरम के बाहर, अर्थात् कोचवान की बगल में दायें-बायें, दो बैठकें थीं। उनमें से एक पर सिकरम-कम्पनी का एक गोरा मुखिया बैठता था। वह अन्दर बैठा और मुझे कोचवान की बगल में बैठाया। मैं समझ गया कि यह निरा अन्याय है – अपमान है। पर मैंने इस अपमान को पी जाना उचित समझा। मैं ज़ोर-ज़बरदस्ती से अन्दर बैठ सकूँ, ऐसी स्थिति थी ही नहीं। अगर तकरार में पड़ूँ तो सिकरम चली जाये और मेरा एक दिन और टूट जाये; और फिर दूसरे दिन क्या हो, सो तो दैव ही जाने! इसलिए मैं समझदारी से काम लेकर बाहर बैठ गया। पर मन में तो बहुत झुंझलाया।

लगभग तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुँची। अब उस गोरे मुखिया ने चाहा कि जहाँ मैं बैठा था वहाँ वह बैठे। उसे सिगरेट पीनी थी। थोड़ी हवा भी खानी होगी। इसलिए उसने एक मैला-सा बोरा, जो वहीं कोचवान के पास पड़ा था, उठा लिया और पैर रखने के पटिये पर बिछाकर मुझसे कहा, "सामी, तू यहाँ बैठ। मुझे कोचवान के पास बैठना है।" मैं इस अपमान को सहने में असमर्थ था। इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा, "तुमने मुझे यहाँ बैठाया और मैंने वह अपमान सह लिया। मेरी जगह तो अन्दर थी, पर तुम अन्दर बैठ गये और मुझे यहाँ बैठाया। अब तुम्हें बाहर बैठने की इच्छा हुई है और सिगरेट पीनी है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरों के पास बैठाना चाहते हो। मैं अन्दर जाने को तैयार हूँ, पर तुम्हारे पैरों के पास बैठने को तैयार नहीं।"

मैं मुश्किल से इतना कह पाया था कि मुझ पर तमाचों की वर्षा होने लगी, और वह गोरा मेरी बाँह पकड़कर मुझे नीचे खींचने लगा। बैठक के पास ही पीतल के सीखचे थे। मैंने भूत की तरह उन्हें पकड़ लिया और निश्चय किया कि कलाई चाहे उखड़ जाये, पर सीखचे न छोड़ूँगा। मुझ पर जो बीत रही थी उसे अन्दर बैठे हुए यात्री देख रहे थे। वह गोरा मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था, मार भी रहा था। पर मैं चुप था। वह बलवान था और मैं बलहीन। यात्रियों में से कइयों को दया आयी और उनमें से कुछ बोल उठेः "अरे भाई, उस बेचारे को वहाँ बैठा रहने दो। उसे नाहक मारो मत। उसकी बात सच है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।" गोरे ने कहा: "हरगिज़ नहीं।" पर थोड़ा शरमिन्दा वह ज़रूर हुआ। अतएव उसने मुझे मारना बन्द कर दिया और मेरी बाँह छोड़ दी। दो-चार गालियाँ तो ज़्यादा दीं, पर एक होटेण्टाट नौकर दूसरी तरफ बैठा था, उसे अपने पैरों के सामने बैठाकर खुद बाहर बैठा। यात्री अन्दर बैठ गये। सीटी बजी। सिकरम चली। मेरी छाती तो धड़क ही रही थी। मुझे शक हो रहा था कि मैं जिन्दा मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर बराबर घूरता ही रहा। अँगुली दिखाकर बड़बड़ाता रहा : "याद रख, स्टैण्डरटन पहुँचने दे, फिर तुझे मज़ा चखाऊँगा।" मैं तो गूँगा ही बैठा रहा और भगवान से अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैण्डरटन पहुँचे। कई हिन्दुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। मुझे कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानी भाइयों ने कहा: "हम आपको ईसा सेठ की दुकान पर ले जाने के लिए

ही खड़े हैं। हमें दादा अब्दुल्ला का तार मिला है।" मैं बहुत खुश हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमार की दुकान पर पहुँचा। सेठ और उनके मुनीम-गुमाश्तों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया । मैंने अपनी बीती उन्हें सुनायी। वे बहुत दुःखी हुए और अपने कड़वे अनुभवों का वर्णन करके उन्होंने मुझे आश्वस्त किया। मैं सिकरम-कम्पनी के एजेण्ट को अपने साथ हुए व्यवहार की जानकारी देना चाहता था। मैंने एजेण्ट के नाम चिट्ठी लिखी। उस गोरे ने जो धमकी दी थी उसकी चर्चा की और यह आश्वासन चाहा कि सुबह आगे की यात्रा शुरू होने पर मुझे दूसरे यात्रियों के पास अन्दर ही जगह दी जाए। चिट्ठी एजेण्ट को भेज दी। एजेण्ट ने मुझे संदेशा भेजा : "स्टैण्डरटन से बड़ी सिकरम जाती है और कोचवान बगैरा बदल जाते हैं। जिस आदमी के खिलाफ़ आपने शिकायत की है, वह कल नहीं रहेगा । आपको दूसरे यात्रियों के पास ही जगह मिलेगी।" इस संदेशे से मुझे थोड़ी बेफ़िक्री हुई। मुझे मारने वाले उस गोरे पर किसी तरह का कोई मुक़द्दमा चलाने का तो मैंने विचार ही नहीं किया था। इसलिए मार का यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। सबेरे ईसा सेठ के लोग मुझे सिकरम पर ले गये। मुझे मुनासिब जगह मिली और बिना किसी हैरानी के में उस रात जोहानिसबर्ग पहुँच गया।

स्टैण्डरटन छोटा-सा गाँव है। जोहानिसबर्ग विशाल नगर है। अब्दुल्ला सेठ ने तार तो वहाँ भी दे ही दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन की दुकान का नाम-पता भी दिया था। उनका आदमी सिकरम के पड़ाव पर पहुँचा था, पर न मैंने उसे देखा और न वह मुझे पहचान सका। मैंने होटल में जाने का विचार किया। दो-चार होटलों के नाम जान लिए थे। गाड़ी की। गाड़ी वाले से कहा कि ग्राण्ड नैशनल होटल में ले चलो। वहाँ पहुँचने पर मैनेजर के पास गया। जगह माँगी। मैनेजर ने क्षणभर मुझे निहारा, फिर शिष्टाचार की भाषा में कहा, "मुझे खेद है, सब कमरे भरे पड़े हैं।" और मुझे बिदा किया। इसलिए मैंने गाड़ी वाले से मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन की दुकान पर ले चलने को कहा। वहाँ अब्दुलगनी सेठ मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटल की अपनी बीती उन्हें सुनायी। वे खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "वे हमें होटल में कैसे उतरने देंगे?"

मैंने पूछा: "क्यों नहीं?"

"सो तो आप कुछ दिन रहने के बाद जान जाएँगे। इस देश में तो हमीं रह सकते हैं, क्योंकि हमें पैसे कमाने हैं । इसीलिए नाना प्रकार के अपमान सहन करते हैं और पड़े हुए हैं।" यों कहकर उन्होंने ट्रान्सवाल में हिन्दुस्तानियों पर गुजरने वाले कष्टों का इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठ का परिचय हमें आगे और भी करना होगा। उन्होंने कहा, "यह देश आपके समान लोगों के लिए नहीं है। देखिये, कल आपको प्रिटोरिया जाना है। वहाँ आपको तीसरे दर्जे में ही जगह मिलेगी। ट्रान्सवाल में नाताल से अधिक कष्ट हैं। यहाँ हमारे लोगों को पहले या दूसरे दर्जे का टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने कहा, "आपने इसके लिए पूरी कोशिश नहीं की होगी।"

"हमने पत्र-व्यवहार तो किया है, पर हमारे अधिकतर लोग पहले-दूसरे दर्जे में बैठना भी कहाँ चाहते है?"

मैंने रेलवे के नियम माँगे। उन्हें पढ़ा। उनमें इस बात की गुंजाइश थी। ट्रान्सवाल के मूल क़ानून सूक्ष्मतापूर्वक नहीं बनाये जाते थे। रेलवे के नियमों का तो पूछना ही क्या था? मैंने सेठ से कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लास में ही जाऊँगा। और वैसे न जा सका तो प्रिटोरिया यहाँ से ३७ मील ही तो है। मैं वहाँ घोड़ागाड़ी करके चला जाऊँगा।"

अब्दुलगनी सेठ ने उससे लगने वाले खर्च और समय की तरफ मेरा ध्यान खींचा। पर मेरे विचार से वे सहमत हुए। मैंने स्टेशन-मास्टर को पत्र भेजा। उसमें मैंने अपने बारिस्टर होने की बात लिखी; यह भी सूचित किया कि मैं हमेशा पहले दर्जे में ही सफ़र करता हूँ; प्रिटोरिया तुरन्त पहुँचने की आवश्यकता की तरफ भी उनका ध्यान खींचा, और उन्हें लिखा कि उनके उत्तर की प्रतीक्षा करने जितना समय मेरे पास नहीं रहेगा, अतएव पत्र का जवाब पाने के लिए मैं खुद ही स्टेशन पर पहुँचूँगा और पहले दर्जे का टिकट पाने की आशा रखूँगा।

इसमें मेरे मन में थोड़ा पेच था। मेरा यह ख़याल था कि स्टेशन-मास्टर लिखित उत्तर तो 'ना' का ही देगा। फिर, 'कुली' बारिस्टर कैसे रहते होंगे, इसकी भी वह कोई कल्पना न कर सकेगा। इसलिए अगर मैं पूरे साहबी ठाठ में उसके सामने जाकर खड़ा रहूँगा और उससे बाद

करूँगा, तो वह समझ जायगा और शायद मुझे टिकट दे देगा। अतएव मैं फ्रोक कोट, नेकटाई बगैरा डालकर स्टेशन पहुँचा। स्टेशन-मास्टर के सामने मैंने गिन्नी निकालकर रखी और पहले दर्जे का टिकट माँगा।

उसने कहा, "आपने ही मुझे चिठ्टी लिखी है?"

मैंने कहा, "जी हाँ। यदि आप मुझे टिकट देंगे, तो मैं आपका एहसान मारनूँगा। मुझे आज प्रिटोरिया पहुँचना ही चाहिए।"

स्टेशन-मास्टर हँसा। उसे दया आयी। वह बोला, "मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ। मैं होलैन्डर हूँ। आप की भावना को मैं समझ सकता हूँ। आपके प्रति मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकट देना चाहता हूँ। पर एक शर्त है - अगर रास्ते में गार्ड आपको उतार दे और तीसरे दर्जे में बैठाये तो आप मुझे फाँसिये नहीं; यानी आप रेलवे कंपनी पर दावा न कीजिए। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विध्न पूरी हो। आप सज्जन हैं, यह तो मैं देख ही सकता हूँ।" यों कहकर उसने टिकट काट दिया। मैंने उसका उपकार माना और उसे निश्चिंत किया। अब्दुलगनी सेठ मुझे बिदा करने आये थे। यह कौतुक देखकर वे प्रसन्न हुए, उन्हें आश्चर्य हुआ। पर मुझे चेताया: "आप भलीभाँति प्रिटोरिया पहुँच जाएँ, तो समझूँगा कि बेड़ा पार हुआ। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दर्जे में आराम से बैठने नहीं देगा; और गार्ड ने बैठने भी दिया, तो यात्री नहीं बैठने देंगे।"

मैं तो पहले दर्जे के ड़िबे में बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट जाँचने आया। मुझे देखते ही खीझ उठा। अंगुली से इशारा करके मुझसे कहा, "तीसरे दर्जे में जाओ।" मैंने पहले दर्जे का अपना टिकट दिखाया। उसने कहा, "कोई बात नहीं; जाओ, तीसरे दर्जे में।"

इस ड़िबे में एक ही अंग्रेज़ यात्री था। उसने गार्ड को आड़े हाथों लिया: "तुम इन भले आदमी को क्यों परेशान करते हो? देखते नहीं हो, इनके पास पहले दर्जे का टिकट है? मुझे इनके बैठने से तनिक भी कष्ट नहीं है।"

यों कहकर उसने मेरी तरफ देखा और कहा: "आप इतमीनान से बैठे रहिए।"

गार्ड बड़बड़ाया: "आपको कुली के साथ बैठना है, तो मेरा क्या बिगड़ता है?" और चल दिया।

रात क़रीब आठ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

२१. प्रिटोरिया में पहला दिन

सन १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन सन १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशन से बिलकुल भिन्न था। धीमी रोशनी वाली बत्तियाँ जल रही थीं। यात्री भी अधिक नहीं थे। मैंने सब यात्रियों को जाने दिया और सोचा कि टिकट कलेक्टर को थोड़ी फुरसत होने पर अपना टिकट दूँगा और यदि वह मुझे किसी छोटे-से होटल का या ऐसे मकान का पता देगा तो वहाँ चला जाऊँगा, या फिर रात स्टेशन पर ही पड़ा रहूँगा। इतना पूछने के लिए भी मन बढ़ता न था, क्योंकि अपमान होने का डर था।

स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-कलेक्टर को टिकट देकर पूछताछ शुरू की। उसने सभ्यता से उत्तर दिये, पर मैंने देखा कि वह मेरी अधिक मदद नहीं कर सकता था। उसकी बगल में एक अमेरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझसे बातचीत शुरू की :

“मैं देख रहा हूँ कि आप बिलकुल अजनबी हैं और यहाँ आपका कोई मित्र नहीं है। अगर आप मेरे साथ चलें, तो मैं आपको एक छोटे-से होटल में ले चलूँगा। उसका मालिक अमेरिकन है और मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। मेरा ख़याल है कि वह आपको टिका लेगा।”

मुझे थोड़ा शक तो हुआ, पर मैंने इन सज्जन का उपकार माना और उनके साथ जाना स्वीकार किया। वे मुझे जोन्स्टन के फेमिली होटल में ले गये। पहले उन्होंने मि. जोन्स्टन को एक ओर ले जाकर थोड़ी बात की। मि. जोन्स्टन ने मुझे एक रात के लिए टिकाना क़बूल किया, और वह भी इस शर्त पर कि भोजन मेरे कमरे में पहुँचा देंगे ।

मि. जोन्स्टन ने कहा, “मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे मन में तो काले-गोरे का कोई भेद नहीं है; परे मेरे ग्राहक सब गोरे ही हैं। यदि मैं आपको भोजन-गृह में भोजन कराऊँ, तो मेरे ग्राहक बुरा मानेंगे और शायद वे चले जाएँगे।”

मैंने जवाब दिया, “आप मुझे एक रात के लिए रहने दे रहे हैं, इसे भी मैं आपका उपकार मानता हूँ। इस देश की स्थिति से मैं कुछ-कुछ परिचित हो चुका हूँ। मैं आपकी कठिनाई को समझ

सकता हूँ। मुझे आप खुशी से मेरे कमरे में खाना दीजिए। कल तक मैं दूसरा प्रबंध कर लेने की आशा रखता हूँ।

मुझे कमरा दिया गया। मैंने उसमें प्रवेश किया। एकान्त मिलने पर भोजन की राह देखता हुआ मैं विचारों में डूब गया। इस होटल में अधिक यात्री नहीं रहते थे। कुछ देर बाद भोजन के साथ वेटर को आता देखने के बदले मैंने मि. जोन्स्टन को देखा। उन्होंने कहा, "मैंने आपको कमरे में खाना देने की बात कही थी। पर मैंने उसमें शरम महसूस की, इसलिए अपने ग्राहकों से आपके विषय में बातचीत करके उनकी राय जानी। आप भोजनगृह में बैठकर भोजन करें, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। इसके अलावा, आप यहाँ जितने दिन भी रहना चाहें रहें, उनकी ओर से कोई रुकावट नहीं होगी। इसलिए अब आप चाहें तो भोजन-गृह में आइये और जब तक जी चाहे यहाँ रहिए।"

मैंने फिर उनका उपकार माना और मैं भोजन-गृह में गया। निश्चिन्त होकर भोजन किया।

२२. खिस्ती संबंधी (ईसाइयों से संपर्क)

दूसरे दिन सबेरे में वकील के घर गया। उनका नाम था, ए॰ ड़ल्यू॰ बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठ ने मुझे उनके बारे में कुछ बता दिया था। इसलिए हमारी पहली मुलाकात से मुझे कोई आश्चर्य न हुआ। वे मुझसे प्रेमपूर्वक मिले और मेरे बारे में कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उन्हें बतला दीं। उन्होंने कहा, "बारिस्टर के नाते तो आपका यहाँ कोई उपयोग हो ही न सकेगा। इस मुक़द्दमे के लिए हमने अच्छे-से-अच्छे बारिस्टर कर रखे हैं। मुक़द्दमा लम्बा है और गुत्थियों से भरा हुआ है। इसलिए आपसे मैं आवश्यक तथ्य आदि प्राप्त करने का ही काम ले सकूँगा। पर इतना फायदा अवश्य होगा कि अपने मुवक्किल के साथ पत्र-व्यवहार करने में मुझे अब आसानी हो जाएगी, और तथ्यादि की जो जानकारी मुझे प्राप्त करनी होगी, वह मैं आपके द्वारा मँगवा सकूँगा। यह फायदा है ज़रूर। आपके लिए अभी तक मैंने कोई मकान तो तलाश नहीं किया है। सोचा था कि आपको देखने के बाद खोज लूँगा। यहाँ रंगभेद बहुत है इसलिए घर मिलना आसान नहीं है। पर मैं एक बहन को जानता हूँ। वह ग़रीब है, भटियारे की स्त्री है। मेरा ख़याल है कि वह आपको टिका लेगी। उसे भी कुछ मदद हो जाएँगी। चलिए, हम उसके यहाँ चलें ।

यों कहकर वे मुझे वहाँ ले गये। मि. बेकर ने उस बहन को एक ओर ले जाकर उससे कुछ बातें कीं, और उसने मुझे टिकाना स्वीकार किया । हफ़्ते के पैंतीस शिलिंग देने का निश्चय हुआ।

मि. बेकर वकील थे और कट्टर पादरी भी थे। वे अभी जीवित हैं, और आजकल केवल पादरी का ही काम करते हैं। वकालत उन्होंने छोड़ दी है। रुपये-पैसे से सुखी हैं। उन्होंने मेरे साथ अब तक पत्र-व्यवहार जारी रखा है। पत्रों का विषय एक ही होता है। वे अपने पत्रों में अलग-अलग ढंग से ईसाई धर्म की उत्तमता की चर्चा करते हैं, और इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि ईसा को ईश्वर का एकमात्र पुत्र और तारनहार माने बिना परम शांति नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकात में मि. बेकर ने धर्म-संबंधी मेरी मनःस्थिति जान ली। मैंने उन्हें बता दिया : "मैं जन्म से हिन्दू हूँ। इस धर्म का भी मुझे अधिक ज्ञान नहीं है। दूसरे धर्मों का ज्ञान भी कम ही है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिए, यह सब मैं नहीं जानता। अपने

धर्म का अध्ययन मैं गंभीरता से करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मों का अध्ययन भी यथाशक्ति करने का मेरा इरादा है।

यह सब सुनकर मि. बेकर खुश हुए और बोले, “मैं स्वयं 'साउथ अफ्रीका जनरल मिशन' का एक डायरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्च से एक गिरजाघर बनवाया है। उसमें समय-समय पर धर्म-संबंधी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रंगभेद को नहीं मानता। मेरे साथ काम करने वाले कुछ साथी भी हैं। हम प्रतिदिन एक बजे कुछ मिनट के लिए मिलते हैं और आत्मा की शांति तथा प्रकाश (ज्ञान के उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आयेंगे, तो मुझे खुशी होगी। वहाँ मैं अपने साथियों से भी आपकी पहचान करा दूँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे और मुझे विश्वास है कि उनका समागम आपको भी अच्छा लगेगा।

मैंने मि. बेकर को धन्यवाद दिया और अपने बसभर रोज़ एक बजे उनके मंडल में प्रार्थना के लिए पहुँचना स्वीकार किया।

दूसरे दिन एक बजे मैं मि. बेकर के प्रार्थना-समाज में गया। वहाँ मिस हेरिस, मिस गेब, मि. कोट्स आदि से परिचय हुआ।

मिस हेरिस और मिस गेब दोनों प्रौढ़ अवस्था की कुमारिकायें थीं। मि. कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों कुमारिकायें साथ रहती थीं। उन्होंने मुझे हर रविवार को चार बजे की चाय के लिए अपने घर आने का निमंत्रण दिया। मि. कोट्स जब मिलते तो मुझे हर रविवार को उन्हें हफ़्तेभर की अपनी धार्मिक डायरी सुनानी पड़ती। कौन-कौनसी पुस्तकें मैंने पढ़ीं, मेरे मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इसकी चर्चा होती।

मि. कोट्स एक साफ़ दिल वाले चुस्त नवजवान क्वेकर थे। उनके साथ मेरा गाढ संबंध हो गया था। हम बहुत बार एकसाथ घूमने भी जाया करते थे। वे मुझे दूसरे ईसाइयों के घर भी ले जाते थे।

मि. कोट्सने मुझे पुस्तकों से लाद दिया। जैसे-जैसे वे मुझे पहचानते जाते, वैसे-वैसे उन्हें अच्छी लगने वाली पुस्तकें वे मुझे पढ़ने को देते रहते। मैंने भी केवल श्रद्धावश ही उन पुस्तकों को पढ़ना स्वीकार किया।

सन १८९३ के वर्ष में मैंने ऐसी पुस्तकें बहुत पढ़ीं।

पर मि. कोट्स हारने वाले आदमी नहीं थे। उनके प्रेम का पार न था। उन्होंने मेरे गले में वैष्णणी कण्ठी देखी। तुलसी के मन के की माला उन्हें यह वहम जान पड़ा और वे दुःखी हुए। बोले, "यह वहम तुम जैसों को शोभा नहीं देता। लाओ, इसे तोड़ दूँ।"

"यह कण्ठी नहीं टूट सकती; माताजी की प्रसादी है।"

"पर क्या तुम इसमें विश्वास करते हो?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। इसे न पहनने से मेरा अकल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। पर माताजी ने जो माला मुझे प्रेमपूर्वक पहनायी है, जिसे पहनाने में उन्होंने मेरा कल्याण माना है, उसका त्याग मैं बिना कारण नहीं करूँगा। समय पाकर यह जीर्ण हो जाएँगी और टूट जाएँगी, तो दूसरी प्राप्त करके पहनने का लोभ मुझे नहीं रहेगा। पर यह कण्ठी टूट नहीं सकती।"

मि. कोट्स मेरी इस दलील की कद्र नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्म के प्रति ही अनास्था थी। वे मुझे अज्ञान-कूप में से उबार लेने की आशा रखते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि दूसरे धर्मों में भले ही कुछ सत्य हो, पर पूर्ण सत्यरूप ईसाई धर्म को स्वीकार किये बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकता; ईसा की मध्यस्थता के बिना पाप धुल ही नहीं सकते और सारे पुण्यकर्म निरर्थक हो जाते हैं।

मेरे भविष्य के बारे में मि. बेकर की चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे बेलिंग्टन कन्वेन्शन में ले गये।

सम्मेलन तीन दिन चला। मैं सम्मेलन में आने वालों की धार्मिकता को समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपने विश्वास में – अपने धर्म मैं – परिवर्तन करने का कारण न मिला। मुझे यह प्रतीति न हुई कि ईसाई बनकर ही मैं स्वर्ग जा सकता हूँ अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब यह बात मैंने अपने भले ईसाई मित्रों से कही तो उनको चोट तो पहुँची, पर मैं लाचार था।

ईसा की मृत्यु से और उनके रक्त से संसार के पाप धुलते हैं, इसे अक्षरश: सच मानने के लिए बुद्धि तैयार नहीं होती थी। रूपक के रूप में उसमें सत्य चाहे हो। इसके अतिरिक्त, ईसाइयों का यह विश्वास है कि मनुष्य के ही आत्मा है, दूसरे जीवों के नहीं, और देह के नाश के साथ उनका संपूर्ण नाश हो जाता है, जब कि मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसा को एक त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षक के रूप में स्वीकार कर सकता था, पर उन्हें अद्वितीय पुरुष के रूप में स्वीकार करना मेरे लिए शक्य न था। ईसाइयों के पवित्र जीवन में मुझे ऐसी कोई चीज़ नहीं मिली, जो अन्य धर्मावलम्बियों के जीवन में न मिली हो। उनमें होने वाले परिवर्तनों जैसे ही परिवर्तन मैंने दूसरों के जीवन में भी होते देखे थे। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई सिद्धान्तों में मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखाई पड़ी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू धर्मावलम्बियों का त्याग मुझे ऊँचा मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्म को सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरी धर्म के रूप में स्वीकार न कर सका।

पर जिस तरह मैं ईसाई धर्म को स्वीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्म की सम्पूर्णता के विषय में अथवा उसकी सर्वोपरिता के विषय में भी मैं उस समय निश्चय न कर सका। हिन्दू धर्म की त्रुटियाँ मेरी आँखों के सामने तैरा करती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अंग है, तो वह सड़ा हुआ और बाद में जुड़ा हुआ अंग जान पड़ा। अनेक सम्प्रदायों की, अनेक जात-पाँतों की हस्ती को मैं समझ न सका। अकेले वेदों के ईश्वर-प्रणीत होने का अर्थ क्या हैं? यदि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, तो बाइबल और कुरान क्यों नहीं?

मैंने अपनी कठिनाइयाँ रायचंदभाई के सामने रखीं। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्मशास्त्रियों के साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओर से उत्तर भी मिले। रायचंदभाई के पत्र से मुझे बड़ी शांति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्म का गहरा अध्ययन करने की सलाह दी। उनके एक वाक्य का भावार्थ यह था : “निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्म में जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मों में नहीं है।”

जिस तरह से खिस्ती मित्रों के मुझ पर असर डालने का प्रयास था उसी तरह मुसलमान मित्रों ने भी प्रयास किये। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए लालायित कर रहे थे।

मैंने सेल का कुरान खरीदा और पढ़ना शुरू किया। कुछ दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी प्राप्त कीं। विलायत में ईसाई मित्रों से पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनमें से एक ने एडवर्ड मेटलैण्ड से मेरा परिचय कराया। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता रहा। उन्होंने एना किंग्सफर्ड के साथ मिलकर *परफेक्ट वे* (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़ने के लिए भेजी। उसमें प्रचलित ईसाई धर्म का खण्डन था। उन्होंने मेरे नाम *बाइबल का नया अर्थ* नामक पुस्तक भी भेजी। ये पुस्तकें मुझे पसन्द आयीं। इनसे हिन्दू मत की पृष्टि हुई। टोल्स्टोय की *वैकुण्ठ तेरे हृदय में है* नामक पुस्तक ने मुझे अभिभूत कर लिया। मुझ पर उसकी बहुत गहरी छाप पड़ी।

इस प्रकार मेरा अध्ययन मुझे ऐसी दिशा में ले गया, जो ईसाई मित्रों की इच्छा के विपरीत थी।

इस प्रकार यद्यपि मैंने ईसाई मित्रों की धारणा से भिन्न मार्ग पकड़ लिया था, फिर भी उनके समागम ने मुझमें जो धर्म-जिज्ञासा जाग्रत की, उसके लिए तो मैं उनका सदा के लिए ऋणी बन गया। अपना यह संबंध मुझे हमेशा याद रहेगा।

२३. हिन्दुस्तानियों की परेशानी का अध्ययन

नाताल में जो स्थान दादा अब्दुल्ला का था, प्रिटोरिया में वही स्थान सेठ तैयब हाजी खानमहम्मद का था। उनके बिना एक भी सार्वजनिक काम चल नहीं सकता था। उनसे मैंने पहले ही हफ़्ते में जान-पहचान कर ली। मैंने उन्हें बताया कि मैं प्रिटोरिया के प्रत्येक हिन्दुस्तानी के सम्पर्क में आना चाहता हूँ। मैंने हिन्दुस्तानियों की स्थिति का अध्ययन करने की अपनी इच्छा प्रकट की और इन सारे कामों में उनकी मदद चाही। उन्होंने खुशी से मदद देना क़बूल किया।

मेरा पहला क़दम तो सब हिन्दुस्तानियों की एक सभा करके उनके सामने सारी स्थिति का चित्र खड़ा कर देना था।

अन्त में मैंने यह सुझाया कि एक मण्डल की स्थापना करके हिन्दुस्तानियों के कष्टों और कठिनाइयों का इलाज अधिकारियों से मिलकर और अर्जियाँ भेजकर करना चाहिए, और यह सूचित किया कि मुझे जितना समय मिलेगा उतना इस काम के लिए मैं बिना वेतन के दूँगा।

निश्चय हुआ कि ऐसी सभा हर महीने या हर हप्ते की जाय। यह सभा न्यूनाधिक नियमित रूप से होती थी, और उसमें विचारों का आदान-प्रदान होता रहता था। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरिया में शायद ही कोई ऐसा हिन्दुस्तानी रहा होगा, जिसे मैं पहचानने न लगा होऊँ अथवा जिसकी स्थिति से मैं परिचित न हो गया होऊँ। हिन्दुस्तानियों की स्थिति का ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का परिणाम यह आया कि मुझे प्रिटोरिया में रहने वाले ब्रिटिश एजेण्ट से परिचय करने की इच्छा हुई। मैं मि. जेकोब्स डि-वेट से मिला। उनकी सहानुभूति हिन्दुस्तानियों के साथ थी। उनका प्रभाव कम था, पर उन्होंने यथासम्भव मदद करने और मिलना हो तब आकर मिल जाने के लिए कहा। रेलवे के अधिकारियों से मैंने पत्र-व्यवहार शुरू किया और बतलाया कि उन्हीं की कायदों के अनुसार हिन्दुस्तानियों को ऊँचे दर्जे में यात्रा करने से रोका नहीं जा सकता। इसके परिणाम-स्वरूप यह पत्र मिला कि अच्छे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानियों को ऊँचे दर्जे के टिकट दिये जाएँगे । इससे पूरी सुविधा नहीं मिली, क्योंकि अच्छे कपड़े किसने पहने हैं, इसका निर्णय तो स्टेशन-मास्टर को ही करना था न?

ब्रिटिश एजेण्ट ने मुझे हिन्दुस्तानियों के बारे में हुए पत्र-व्यवहार-संबंधी कई काग़ज़ पढ़ने को दिये। तैयब सेठ ने भी दिये थे। उनसे मुझे पता चला कि ओरेन्ज फ्री स्टेट से हिन्दुस्तानियों को किस निर्दयता के साथ निकाल बाहर किया गया था। सारांश यह कि ट्रान्सवाल और ओरेन्ज फ्री स्टेट के हिन्दुस्तानियों की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का गहरा अध्ययन मैं प्रिटोरिया में कर सका। इस अध्ययन का आगे चलकर मेरे लिए पूरा उपयोग होने वाला है, इसकी मुझे जरा भी कल्पना नहीं थी। मुझे तो एक साल के अन्त में अथवा मुक़द्दमा पहले समाप्त हो जाए तो उससे पहले ही स्वदेश लौट जाना था।

पर ईश्वर ने कुछ और ही सोच रखा था।

ट्रान्सवाल और ओरेन्ज फ्री स्टेट के हिन्दुस्तानियों की स्थिति का पूरा चित्र देने का यह स्थान नहीं है। उसकी जानकारी चाहने वाले को *दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह का इतिहास* पढना चाहिए।

ट्रान्सवाल में एक कड़ा क़ानून बना। उसके फलस्वरूप यह तय हुआ कि हरएक हिन्दुस्तानी को प्रवेश-फीस के रूप में तीन पौंड जमा कराने चाहिए। उनके लिए अलग छोड़ी गयी जगह में ही वे ज़मीन-मालिक हो सकते थे। पर वहाँ भी उन्हें व्यवहार में ज़मीन का स्वामित्व नहीं मिला। उन्हें मताधिकार भी नहीं दिया गया था। ये तो खास एशियावासियों के लिए बने क़ानून थे। इसके अलावा, जो क़ानून काले रंग के लोगों को लागू होते थे, वे भी एशियावासियों पर लागू होते थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तानी लोग पटरी (फूटपाथ)) पर अधिकार-पूर्वक चल नहीं सकते थे और रात नौ बजे के बाद परवाने के बिना बाहर नहीं निकल सकते थे।

मैं अकसर मि. कोट्स के साथ रात को घूमने जाया करता था। कभी-कभी घर पहुँचने में दस भी बज जाते थे। अतएव पुलिस मुझे पकड़े तो? यह डर जितना स्वयं मुझे था उससे अधिक मि. कोट्स को था। अपने हब्शियों को तो वे ही परवाने देते थे। लेकिन मुझे परवाना कैसे दे सकते थे? मालिक अपने नौकर को ही परवाना देने का अधिकारी था। मैं लेना चाहूँ और मि. कोट्स देने

को तैयार हो जाएँ, तो भी वह नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि वैसा करना विश्वासघात माना जाता।

इसलिए मि. कोट्स या उनके कोई मित्र मुझे वहाँ के सरकारी वकील डो. क्राउज़े के पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बारिस्टर निकले। उन्हें यह बात असह्य जान पड़ी कि रात नौ बजे के बाद बाहर निकलने के लिए मुझे परवाना लेना चाहिए। उन्होंने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की। मुझे परवाना देने के बदले उन्होंने अपनी तरफ से एक पत्र दिया। उसका आशय यह था कि मैं चाहे जिस समय चाहे जहाँ जाऊँ, पुलिस को उसमें दखल नहीं देना चाहिए। मैं इस पत्र को हमेशा अपने साथ रखकर घूमने निकलता था। कभी उसका उपयोग नहीं करना पड़ा। लेकिन इसे तो केवल संयोग ही समझना चाहिए।

पटरी पर चलने का प्रश्न मेरे लिए कुछ गंभीर परिणाम वाला सिद्ध हुआ। मैं हमेशा प्रेसिडेण्ड स्ट्रीट के रास्ते एक खुले मैदान में घूमने जाया करता था। इस मुहल्ले में प्रेसिडेण्ड क्रूगर का घर था। यह घर सब तरह के आडंबरों से रहित था। इसके चारों ओर कोई अहाता भी नहीं था। आसपास के दूसरे घरों में और इसमें कोई फरक नहीं मालूम होता था। घर के सामने पहरा देने वाले संतरी को देखकर ही पता चलता था कि यह किसी अधिकारी का घर है। मैं प्रायः हमेशा ही इस सिपाही के बिलकुल पास से होकर निकलता था, पर वह मुझे कुछ नहीं कहता था। सिपाही समय-समय पर बदला करते थे। एक बार एक सिपाही ने बिना चेताये, बिना पटरी पर से उतर जाने को कहे, मुझे धक्का मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया। मैं तो गहरे सोच में पड़ गया। लात मारने का कारण पूछने से पहले ही मि. कोट्स ने, जो उसी समय घोड़े पर सवार होकर उधर से गुज़र रहे थे, मुझे पुकारा और कहा :

“गांधी, मैंने सब देखा है। आप मुक़द्दमा चलाना चाहें तो मैं गवाही दूँगा। मुझे इस बात का बहुत खेद है कि आप पर इस तरह हमला किया गया।”

मैंने कहा: “इसमें खेद का कोई कारण नहीं। सिपाही बेचारा क्या जाने? उसके लिए तो काले-काले सब एक से ही हैं। वह हब्शियों को इसी तरह पटरी पर से उतारता होगा। इसलिए

उसने मुझे भी धक्का मारा। मैंने तो नियम ही बना लिया है कि मुझ पर जो बीतेगी, उसके लिए मैं कभी अदालत में नहीं जाऊँगा। इसलिए मुझे मुक़द्दमा नहीं चलाना है।"

"यह तो आपने अपने स्वभाव के अनुरूप ही बात कही है। पर आप इस पर फिर से सोचिये। ऐसे आदमी को कुछ सबक तो देना ही चाहिए।"

इतना कहकर उन्होंने उस सिपाही से बात की और उसे उलाहना दिया। मैं सारी बात तो समझ नहीं सका। सिपाही डच था और उसके साथ उनकी बातें डच भाषा में हुईं। सिपाही ने मुझसे माफी माँगी। मैं तो उसे पहले ही माफ़ कर चुका था।

लेकिन उस दिन से मैंने वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाहियों को इस घटना का क्या पता होगा? मैं खुद होकर फिर लात किसलिए खाऊँ? इसलिए मैंने घूमने जाने के लिए दूसरा रास्ता पसन्द कर लिया।

मैंने देखा कि स्वाभिमान की रक्षा चाहने "वाले हिन्दुस्तानियों के लिए दक्षिण अफ़्रीका उपयुक्त देश नहीं है। यह स्थिति किस तरह बदली जा सकती है, इसके विचार में मेरा मन अधिकाधिक व्यस्त रहने लगा। किन्तु अभी मेरा मुख्य धर्म तो दादा अब्दुल्ला के मुक़द्दमे को ही सम्भालने का था।

२४. मुक़द्दमे की तैयारी

अन्त में मैंने दादा अब्दुल्ला के केस में यह देख लिया कि उनका पक्ष मज़बूत है। क़ानून को उनकी मदद करनी ही चाहिए।

पर मैंने देखा कि मुक़द्दमा लड़ने में दोनों पक्ष, जो आपस में रिश्तेदार हैं और एक ही नगर के निवासी हैं, बरबाद हो जाएँगे। कोई कह नहीं सकता था कि मुक़द्दमे का अन्त कब होगा। अदालत में चलता रहे, तो उसे जितना चाहो उतना लम्बा किया जा सकता था। मुक़द्दमे को लम्बा करने में दो में से किसी एक पक्ष का भी लाभ न होता। इसलिए संभव हो तो दोनों पक्ष मुक़द्दमे का शीघ्र अन्त चाहते थे।

मैंने तैयब सेठ से बिनती की। झगड़े को आपस में ही निबटा लेने की सलाह दी। उन्हें अपने वकील से मिलने को कहा। यदि दोनों पक्ष अपने विश्वास के किसी व्यक्ति को पंच चुन लें, तो मामला झटपट निबट जाए। वकीलों का खर्च इतना अधिक बढ़ता जा रहा था कि उसमें उनके जैसे बड़े व्यापारी भी बरबाद हो जाते। दोनों इतनी चिन्ता के साथ मुक़द्दमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम नहीं कर सकता था। इस बीच आपस में बैर भी बढ़ता ही जा रहा था। मुझे वकील के धंधे से घृणा हो गयी। वकील के नाते तो दोनों के वकीलों को अपने-अपने मुवक्किल को जीतने के लिए क़ानून की गालियाँ ही खोज कर देनी थीं। इस मुक़द्दमे में पहले-पहल मैंने यह जाना कि जीतने वाले को पूरा खर्च कभी मिल ही नहीं सकता। दूसरे पक्ष से कितना खर्च वसूल किया जा सकता है, इसकी एक मर्यादा होती है, जब कि मुवक्किल का खर्च उससे कहीं अधिक होता है। मुझे यह सब असह्य मालूम हुआ। मैंने तो अनुभव किया कि मेरा धर्म दोनों की मित्रता साधना और दोनों रिश्तेदारों में मेल करा देना है। मैंने समझौते के लिए जी-तोड़ मेहनत की। तैयब सेठ मान गये। आख़िर पंच नियुक्त हुए। उनके सामने मुक़द्दमा चला। मुक़द्दमे में दादा अब्दुल्ला जीते।

पर इतने से मुझे संतोष नहीं हुआ। यदि पंच के फैसले पर अमल होता, तो तैयब हाजी खानमहम्मद इतना रुपया एकसाथ दे ही नहीं सकते थे। दक्षिण अफ़्रीका में बसे हुए पोरबंदर के

मेमनों में आपस का ऐसा एक अलिखित नियम था कि खुद चाहे मर जाएँ, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ सैंतीस हज़ार पौण्ड और मुक़द्दमे का खर्च एक मुश्त दे ही नहीं सकते थे। उन्हें न तो एक दमड़ी कम देनी थी और न दिवाला ही निकालना था। रास्ता एक ही था कि दादा अब्दुल्ला उन्हें काफ़ी लम्बी मोहलत दें। दादा अब्दुल्ला ने उदारता से काम लिया और खूब लम्बी मोहलत दे दी। पंच नियुक्त कराने में मुझे जितनी मेहनत पड़ी, उससे अधिक मेहनत यह लम्बी अवधि निश्चित कराने में पड़ी। दोनों पक्षों को प्रसन्नता हुई। दोनों की प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोष की सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत सीखा, मनुष्य के अच्छे पहलू को खोजना सीखा और मनुष्य-हृदय में प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकील का कर्तव्य दोनों पक्षों के बीच खुदी हुई खाई को पाटना है। इस शिक्षा ने मेरे मन में ऐसी जड़ जमायी कि बीस साल की अपनी वकालत का मेरा अधिकांश समय अपने दफ़्तर में बैठकर सैकड़ों अमलों को आपस में सुलझाने में ही बीता। उसमें मैंने कुछ खोया नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैंने पैसा खोया। आत्मा तो खोयी ही नहीं।

२५. को जाने कल की?

मुक़द्दमे के खतम होने पर मेरे लिए प्रिटोरिया में रहने का कोई कारण न रहा। मैं डरबन गया। वहाँ पहुँचकर मैंने हिन्दुस्तान लौटने की तैयारी की। अब्दुल्ला सेठ मुझे बिना मान-सम्मान के जाने दें, यह संभव न था। उन्होंने मेरे निमित्त से सिडनहैम में एक सामूहिक भोज का आयोजन किया। पूरा दिन वहीं बिताना था।

मेरे पास कुछ अखबार पड़े थे। मैं उन्हें पढ़ रहा था। एक अखबार के एक कोने में मैंने एक छोटा-सा संवाद देखा। उसका शीर्षक था : 'इण्डियन फ्रेंचाइज़' यानी हिन्दुस्तानी मताधिकार। इस संवाद का आशय यह था कि हिन्दुस्तानियों को नाताल की धारासभा के लिए सदस्य चुनने का जो अधिकार है वह छीन लिया जाएँ। धारासभा में इससे सम्बन्ध रखने वाले क़ानून पर बहस चल रही थी। मैं इस क़ानून से अपरिचित था। भोज में सम्मिलित सदस्यों में से किसीको भी हिन्दुस्तानियों का अधिकार छीनने वाले इस बिल की कोई खबर न थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठ से पूछा। उन्होंने कहा, "इन बातों को हम क्या जानें! व्यापार पर कोई संकट आवे तो हमें उसका पता चलता है।"

किन्तु मुझे तो वापस स्वदेश जाना था, इसलिए मैंने उपर्युक्त विचारों को प्रकट नहीं किया। मैंने अब्दुल्ला सेठ से कहा, "लेकिन अगर यह क़ानून इसी तरह पास हो गया, तो आप सबको बड़ी मुश्किल में डाल देगा। यह तो हिन्दुस्तानियों की आबादी को मिटाने का पहला क़दम है। इसमें हमारे स्वाभिमान की हानि है।"

दूसरे मेहमान इस चर्चा को ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उनमें से एकने कहा, "मैं आपसे सच बात कहूँ? अगर आप इस स्टीमर से न जाएँ और एकाध महीना रुक जाएँ, तो आप जिस तरह कहेंगे, हम लड़ेंगे।"

दूसरे सब एकसाथ बोल उठे :

मैंने मन में लड़ाई की रूपरेखा तैयार कर ली। मताधिकार कितनों को प्राप्त है, सो जान लिया। और मैंने एक महीना रुक जाने का निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वर ने दक्षिण अफ़्रीका में मेरे स्थायी निवास की नींव डाली और स्वाभिमान की लड़ाई का बीज रोपा गया।

पहला काम तो यह सोचा गया कि धारासभा के अध्यक्ष को ऐसा तार भेजा जाये कि वे बिल पर अधिक विचार करना मुलतवी कर दें। इसी आशय का तार मुख्यमंत्री (सर जोन रोबिन्सन) को भी भेजा।

सब जानते थे कि यही नतीजा निकलेगा, पर कौम में नवजीवन का संचार हुआ। सब कोई यह समझे कि हम एक कौम हैं, केवल व्यापार सम्बन्धी अधिकारों के लिए ही नहीं, बल्कि कौम के अधिकारों के लिए भी लड़ना हम सबका धर्म है।

धारासभा में भेजने की अर्ज़ी तैयार की गई। और भेज दी गई। बिल तो पास हो गया।

उन दिनों लोर्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। उन्हें एक बहुत बड़ी अर्ज़ी भेजने का निश्चय किया गया।

अर्ज़ी लिखने में मैंने बहुत मेहनत की। जो साहित्य मुझे मिला, सो सब मैं

पढ़ गया।

अर्ज़ी पर दस हज़ार सहियाँ हुईं। एक पखवाड़े में अर्ज़ी भेजने लायक सहियाँ प्राप्त हो गयीं। इतने समय में नाताल में दस हज़ार सहियाँ प्राप्त की गयीं, इसे पाठक छोटी-मोटी बात न समझें। सहियाँ समूचे नाताल से प्राप्त करनी थीं। लोग ऐसे काम से अपरिचित थे। निश्चय यह था कि सही करने वाला किस बात पर सही कर रहा है, इसे जब तक वह समझ न ले तब तक सही न ली जाये। इसलिए खास तौर पर स्वयंसेवकों को भेजकर ही सहियाँ प्राप्त की जा सकती थीं। गाँव दूर-दूर थे, इसलिए अधिकतर काम करने वाले लगन से काम करें तभी ऐसा काम शीघ्रता-पूर्वक हो सकता था। ऐसा ही हुआ।

अर्ज़ी गयी। उसकी एक हज़ार प्रतियाँ छपवायी थीं। उस अर्ज़ी के कारण हिन्दुस्तान के आम लोगों को नाताल का पहली बार परिचय हुआ। मैं जितने अखबारों और सार्वजनिक नेताओं के नाम जानता था उतनों को अर्जी की प्रतियाँ भेजीं।

टाइम्स ओफ इंडिया ने उस पर अग्रलेख लिखा और हिन्दुस्तानियों की माँग का अच्छा समर्थन किया। विलायत में भी अर्ज़ी की प्रतियाँ सब पक्षों के नेताओं को भेजी गयी थीं। वहाँ लन्दन के *टाइम्स* का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे आशा बंधी कि बिल मंजूर न हो सकेगा।

अब में नाताल छोड़ सकूँ ऐसी मेरी स्थिति नहीं रही। लोगों ने मुझे चारों जरफ़ से घेर लिया और नाताल में ही स्थायी रूप से रहने का अत्यन्त आग्रह किया। और में नाताल में ठहर गया।

२६. नाताल इन्डियन काँग्रेस

भारतीय मताधिकार प्रतिबंधक क़ानून के विरुद्ध केवल प्रार्थना-पत्र भेजकर ही बैठा नहीं जा सकता था। उसके बारे में आन्दोलन चलते रहने से ही उपनिवेश-मंत्री पर उसका असर पड़ सकता था। इसके लिए एक संस्था की स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में मैंने अब्दुल्ला सेठ से सलाह की, दूसरे साथियों से मिला, और हमने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करने का निश्चय किया।

सन १८९४ के मई मास की २२ तारीख को नाताल इन्डियन काँग्रेस का जन्म हुआ।

नाताल इण्डियन काँग्रेस में उपनिवेशों में पैदा हुए हिन्दुस्तानियों ने प्रवेश किया था और मुहर्रिरों का समाज उसमें दाख़िल हुआ था, फिर भी मज़दूरों ने, गिरमिटिया समाज के लोगों ने, उसमें प्रवेश नहीं किया था। काँग्रेस उनकी नहीं हुई थी। वे उसमें चन्दा देकर और दाख़िल होकर उसे अपना नहीं सके थे। उनके मन में काँग्रेस के प्रति प्रेम तो तभी पैदा हो सकता था, जब काँग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा प्रसंग अपने-आप आ गया और वह भी ऐसे समय जब कि मैं स्वयं अथवा काँग्रेस उसके लिए शायद ही तैयार थी। मुझे वकालत शुरू किये अभी मुश्किल से दो-चार महीने हुऐ थे। काँग्रेस का भी बचपन था। इतने में एक दिन बालासुन्दरम् नाम का एक मद्रासी हिन्दुस्तानी हाथ में साफा लिए रोता-रोता मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके कपड़े फटे हुए थे, वह थर-थर काँप रहा था, उसके मुँह से खून बह रहा था और उसके दो दाँत टूटे हुए थे। उसके मालिक ने उसे बुरी तरह मारा था। तामिल समझने वाले अपने मुहर्रिर के द्वारा मैंने उसकी स्थिति जान ली। बालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरे के यहाँ मज़दूरी करता था। मालिक किसी वजह से गुस्सा हुआ होगा। उसे होश न रहा और उसने बालासुन्दरम् की खूब जमकर पिटाई की। परिणाम-स्वरूप बालासुन्दरम् के दो दाँत टूट गये।

मैंने उसे डोक्टर के यहाँ भेजा। उन दिनों गोरे डोक्टर ही मिलते थे। मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाण-पत्र की आवश्यकता थी। उसे प्राप्त करके मैं बालासुन्दरम् को मजिस्ट्रेट के पास ले गया।

वहाँ बालासुन्दरम् का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया। उसे पढ़कर मजिस्ट्रेट मालिक पर गुस्सा हुआ। उसने मालिक के नाम समन जारी करने का हुक्म दिया।

मेरी नीयत मालिक को सज़ा कराने की नहीं थी । मुझे तो बालासुन्दरम् को उसके पंजे से छुड़ाना था। मैंने गिरमिटियों से संबंध रखने वाले क़ानून की छानबीन कर ली। यदि साधारण नौकर नौकरी छोड़ता, तो मालिक उसके खिलाफ़ दीवानी दावा दायर कर सकता था, पर उसे फ़ौजदारी में नहीं ले जा सकता था। गिरमिट में और साधारण नौकरी में बहुत फरक था। पर खास फरक यह था कि अगर गिरमिटिया मालिक को छोड़े, तो वह फौजदारी गुनाह माना जाता था और उसके लिए उसे क़ैद भुगतनी होती थी। इसीलिए सर विलियम विल्सन हण्टर ने इस स्थिति को लगभग गुलामीकी-सी स्थिति माना था। गुलाम की तरह गिरमिटिया मालिक की मिल्कियत माना जाता था। बालासुन्दरम् को छुड़ाने के केवल दो उपाय थे : या तो गिरमिटियों के लिए नियुक्त अधिकारी, जो क़ानून की दृष्टि से उनका रक्षक कहा जाता था, उसका गिरमिट रद करे या दूसरे के नाम लिखवा दे; अथवा मालिक स्वयं उसे छोड़ने को तैयार हो जाय। मैं मालिक से मिला। उससे मैंने कहा, “मैं आपको सज़ा नहीं कराना चाहता। इस आदमी को सख्त मार पड़ी है, सो तो आप जानते ही हैं। आप इसका गिरमिट दूसरे के नाम लिखाने को राज़ी हो जाएँ, तो मुझे सन्तोष होगा।” मालिक तो यही चाहता था। फिर मैं रक्षक से मिला। उसने भी सहमत होना स्वीकार किया, पर शर्त यह रखी कि मैं बालासुन्दरम् के लिए नया मालिक खोज दूँ।

मुझे नये मालिक की खोज करनी थी । हिन्दुस्तानियों को गिरमिटिया मज़दूर रखने की इजाजत नहीं थी। मैं अभी कुछ ही अंग्रेज़ों को पहचानता था। उनमें से एक को मिला। उन्होंने मुझ पर मेहरबानी करके बालासुन्दरम् को रखना मंजूर कर लिया। मैंने उनकी कृपा को साभार स्वीकार किया। मजिस्ट्रेट ने मालिक को अपराधी ठहराकर यह लिख दिया कि उसने बालासुन्दरम् का गिरमिट दूसरे के नाम लिखाना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम् के मामले की बात गिरमिटियों में चारों तरफ फैल गयी और मैं उनका बन्धु मान लिया गया। मुझे यह बात अच्छी लगी। मेरे दफ़्तर में गिरमिटियों का ताँता-सा लग गया और मुझे उनके सुख-दुःख जानने की बड़ी सुविधा हो गयी।

बालासुन्दरम् के मामले की भनक ठेठ मद्रास प्रान्त तक पहुँची। उस प्रान्त के जिन-जिन हिस्सों से लोग नाताल के गिरमिट में जाते, उन्हें गिरमिटिया ही इस मामले की जानकारी देते थे। वैसे यह मामला महत्त्व का नहीं था, पर लोगों को यह जानकर आनन्द और आश्चर्य हुआ कि उनके लिए प्रकट रूप से काम करनेवाला कोई आदमी निकल आया है। इस बात से उन्हें आश्वासन मिला।

२७. तीन पौण्ड का कर

लगभग १८६० में जब नाताल में बसे हुए गोरों ने देखा कि वहाँ ईख की फसल अच्छी हो सकती है, तो उन्होंने मज़दूरों की खोज शुरू की। मज़दूर न मिलें, तो न ईख पैदा हो सकती थी और न चीनी ही बन सकती थी। नाताल के हब्शी यह मज़दूरी नहीं कर सकते थे। इसलिए नाताल-निवासी गोरों ने भारत-सरकार के साथ विचार-विमर्श करके हिन्दुस्तानी मज़दूरों को नाताल जाने देने की अनुमति प्राप्त की। उन्हें यह लालच दिया गया कि पाँच साल तक मज़दूरी करने का बंधन रहेगा और पाँच साल के बाद उन्हें स्वतंत्र रीति से नाताल में बसने की छूट रहेगी। उनको ज़मीन का मालिक बनने का पूरा अधिकार भी दिया गया था।

हिन्दुस्तानी मज़दूरों ने यह लाभ आशा से अधिक दिया। साग-सब्जी खूब बोयी। हिन्दुस्तान की अनेक उत्तम तरकारियाँ पैदा कीं। जो साग-सब्जियाँ वहाँ पहले से पैदा होती थीं उनके दाम सस्ते कर दिये। हिन्दुस्तान से आम लाकर लगाये। उसका उद्यम सिर्फ़ खेती हीं नहीं रह गया। पर इसके साथ ही उन्होंने व्यापार भी शुरू कर दिया। घर बनाने के लिए ज़मीनें खरीद लीं और बहुतेरे लोग मज़दूर न रहकर अच्छे ज़मींदार और मकान-मालिक बन गये। इस तरह मज़दूरों में से मकान-मालिक बन जाने वालों के पीछे-पीछे वहाँ स्वतंत्र व्यापारी भी पहुँचे। स्व॰ सेठ अबूबकर आमद उनमें सबसे पहले पहुँचने वाले थे। उन्होंने वहाँ अपना कारोबार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौंके। जब पहले-पहल उन्होंने हिन्दुस्तानी मज़दूरों का स्वागत किया था, तब उन्हें उनकी व्यापार करने की शक्ति का कोई अन्दाज़ न था। वे किसान के नाते स्वतंत्र रहें, इस हद तक तो गोरों को उस समय कोई आपत्ति न थी, पर व्यापार में उनकी प्रतिद्वन्द्विता उन्हें असह्य जान पड़ी।

हिन्दुस्तानियों के साथ उनके विरोध के मूल में यह चीज़ थी।

उसमें दूसरी चीज़े और मिल गयीं।-ये सारी बातें विरोध को भड़काने वाली सिद्ध हुईं।

यह विरोध प्राप्त मताधिकार को छीन लेने के रूप में और गिरमिटियों पर कर लगाने के क़ानून के रूप में प्रकट हुआ। क़ानून के बाहर तो अनेक प्रकार से उन्हें परेशान करना शुरू हो ही चुका था।

पहला सुझाव तो यह था कि गिरमिट पूरा होने के कुछ दिन पहले ही हिन्दुस्तानियों को ज़बरदस्ती वापस भेज दिया जाए, ताकि उनके इकरारनामे की मुद्दत हिन्दुस्तान में पूरी हो। पर इस सुझाव को भारत-सरकार मानने वाली नहीं थी। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि :

१. मज़दूरी का इकरार पूरा हो जाने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाये; अथवा
२. हर दूसरे साल नया गिरमिट लिखवाये और उस हालत में हर बार उसके वेतन में कुछ बढ़ोतरी की जाये;
३. अगर वह वापस न जाये और मज़दूरी का नया इकरारनामा भी न लिखे, तो हर साल २५ पौण्ड का कर दे।

इन सुझावों का स्वीकार कराने के लिए सर हेनरी बीन्स और मि. मेसन का डेप्युटेशन हिन्दुस्तान भेजा गया। तब लोर्ड एलविन वाइसरोय थे। उन्होंने २५ पौण्ड का कर तो नामंजूर कर दिया; पर वैसे हरएक हिन्दुस्तानी से ३ पौण्ड का कर लेने की स्वीकृति दे दी। मुझे उस समय ऐसा लगा था और अब तक लगता है कि वाइसरोय की यह गंभीर भूल थी। इस प्रकार पति-पत्नी और दो बच्चोंवाले कूटुम्ब से, जिसमें पति को अधिक से अधिक १४ शिलिंग प्रतिमास मिलते हों, १२ पौण्ड अर्थात् १८० रुपये का कर लेना भारी जुल्म माना जाएगा। दुनिया में कहीं भी इस स्थिति के ग़रीब लोगों से ऐसा भारी कर नहीं लिया जाता था।

इस करके विरुद्ध ज़ोरों की लड़ाई छिड़ी। कोई आवाज़ ही न उठाई जाती, तो शायद वाइसरोय २५ पौण्ड भी मंजूर कर लेते। २५ पौण्ड के बदले ३ पौण्ड होना भी काँग्रेस के आन्दोलन का ही प्रताप हो, यह पूरी तरह संभव है। पर इस कल्पना में मेरी भूल हो सकती है। सम्भव है कि भारत-सरकार ने २५ पौण्ड के प्रस्ताव को शुरू से ही अस्वीकार कर दिया हो, और हो सकता है कि काँग्रेस के विरोध न करने पर भी वह ३ पौण्ड का कर ही स्वीकार करती। तो भी उसमें

हिन्दुस्तान के हित की हानि तो थी ही। हिन्दुस्तान के हित-रक्षक के नाते बाइसरोय को ऐसा अमानुषी कर कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए था।

२५ से ३ पौण्ड (३७५ रुपये से ४५ रुपये) होने में काँग्रेस क्या यश लेती? उसे तो यही अखरा कि वह गिरमिटियों के हित की पूरी रक्षा न कर सकी। और ३ पौण्ड का कर किसी-न-किसी दिन हटना ही चाहिए।

अगर कौम हार मानकर चूप हो जाती, काँग्रेस लड़ाई को भूल जाती, तथा कर को अनिवार्य मानकर शरण स्वीकार कर लेती; तो यह कर आज तक गिरमिटिया हिंदी के पास से लिया जाता होता, इतना हीं नहीं; मगर इसकी नालेशी स्थानिक हिंदीओं को तो होती ही; मगर मस्त हिन्दुस्तान को भी इसका शर्मनाक असर होता।

अब मेरा निवास दक्षिण अफ़्रीका का तीन साल का तो हो चुका था। लोगों को मैं भलीभाँति पहचानने लगा था तथा वे भी मुझे पहचान लेते थे; तथा १८९६ के साल में छह मास के लिए देश जाने की इजाज़त चाही। मैंने यह भी महसूस किया कि मुझे दक्षिण अफ़्रीका में रहना चाहिए। मेरी वकालात भी अच्छी चल रही थी ऐसा माना जा सकता है । सार्वजनिक कार्य में मैं उपस्थित रहूँ ऐसा लोग चाहते थे। इसी कारण से मैंने तय किया कि परिवार के साथ मैं दक्षिण अफ़्रीका में बस जाऊँ। इसी कारण में देश जाकर वापस जाना दुरस्त माना। देश में जाने से कुछ सार्वजनिक कार्य हो पायेगा ऐसा मैंने माना। देश में लोकमत बनाकर उस समस्या में उसका उपयोग करके इस बात को ज़्यादा असरकारक बनाऊँ ऐसा महसूस किया।

भाग-५ : हिंद की मुलाकात

२८. हिन्दुस्तान में

बम्बई में रुके बिना मैं सीधा राजकोट गया और वहाँ एक पुस्तिका लिखने की तैयारी में लगा। पुस्तिका लिखने और छपाने में लगभग एक महीना बीत गया। उसका आवरण हरा था, इसलिए बाद में वह *हरी पुस्तिका* के नाम से प्रसिद्ध हुई । उसमें दक्षिण अफ़्रीका के हिन्दुस्तानियों की स्थिति का चित्रण मैंने जान-बूझकर नरम भाषा में किया था।

हरी पुस्तिका की दस हज़ार प्रतियाँ छपायी थीं और उन्हें सारे हिन्दुस्तान के अखबारों और सब पक्षों के प्रसिद्ध लोगों को भेजा था। *पायोनियर* में उस पर सबसे पहले लेख निकला। उसका सारांश विलायत गया और उस सारांश का सारांश फिर रायटर के द्वारा नाताल पहुँचा। वह तार तो तीन पंक्तियों का था। नाताल में हिन्दुस्तानियों के साथ होने वाले व्यवहार का जो चित्र मैंने खींचा था, उसका वह लघु संस्करण था। वह मेरे शब्दों में नहीं था। उसका जो असर हुआ उसे हम आगे देखेंगे। धीरे-धीरे सब प्रमुख पत्रों मे इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा हुई।

इस पुस्तिका को डाक से भेजने के लिए इसके पैकेट तैयार कराने का काम मुश्किल था, और पैसा देकर कराना खर्चीला था। मैंने सरल युक्ति खोज ली। मुहल्ले के सब लड़कों को मैंने इकठ्ठा किया और उसने सबेरे के दो-तीन घण्टों में से जितना समय वे दे सकें उतना देने के लिए कहा। लड़कों ने इतनी सेवा करना खुशी से स्वीकार किया। अपनी तरफ से मैंने उन्हें अपने पास जमा होने वाले काम में आये हुए डाक के टिकट और आशीर्वाद देना क़बूल किया। लड़कों ने हँसते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। इस प्रकार छोटे बच्चों को स्वयंसेवक बनाने का यह मेरा पहला प्रयोग था। इन बालकों में से दो आज मेरे साथी हैं।

राजकोट में मेरा दक्षिण अफ़्रीका का काम चल रहा था, इसी बीच मैं बम्बई हो आया। खास-खास शहरों में सभायें करके विशेष रूप से लोकमत तैयार करने का मेरा इरादा था। इसी

ख़याल से मैं वहाँ गया था। पहले मैं न्यायमूर्ति रानडे से मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यान से सुनी और मुझे सर फीरोजशाह मेहता से मिलने की सलाह दी।

मैं सर फीरोजशाह से मिला। उनके तेज से चकाचौंध हो जाने को तो मैं तैयार था ही। उनके लिए प्रयुक्त होने वाले विशेषणों को मैं सुन चुका था। मुझे 'बम्बई के शेर' और बम्बई के 'बेताज के बादशाह' से मिलना था। पर बादशाह ने मुझे डराया नहीं। पिता जिस प्रेम से अपने नौजवान बेटे से मिलता है, उसी तरह वे मुझसे मिले ।

इस सारी बातचीत में मुश्किल से दो मिनट लगे होंगे। सर फीरोजशाह ने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजी से मिल चुकने की बात भी मैंने उन्हें बतला दी। उन्होंने कहा : “गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी। मुझे तुम्हारी मदद करनी चाहिए।” फिर अपने मुंशी की ओर मुड़े और उसे सभा का दिन निश्चित करने को कहा। दिन निश्चित करके मुझे बिदा किया।

फरामजी कावसजी इन्स्टिटयूट के हॉल में सभा थी। मैंने सुन रखा था कि जिस सभा में सर फीरोजशाह बोलने वालें हों, उस सभा में खड़े रहने को जगह नहीं मिलती। ऐसी सभाओं में विद्यार्थी-समाज खास रस लेता था।

ऐसी सभा का मेरा यह पहला अनुभव था।

सर फीरोजशाह को मेरा भाषण अच्छा लगा। मुझे गंगा नहाने-का-सा सन्तोष हुआ।

सर फीरोजशाह मेहता ने मेरा मार्ग सरल कर दिया था। बम्बई से मैं पूना गया। मुझे मालूम था कि पूना में दो दल थे। मुझे तो सबकी मदद की ज़रूरत थी। मैं लोकमान्य तिलक से मिला। उन्होंने कहा :

“सब पक्षों की मदद लेने का आपका विचार बिलकुल ठीक है। आपके मामले में कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। लेकिन आपके लिए तटस्थ सभापति चाहिए। आप प्रो. भाण्डारकर से मिलिए। वे आजकल किसी आन्दोलन में सम्मिलित नहीं होते। पर सम्भव है कि इस काम के

लिए आगे आ जाएँ। उनसे मिलने के बाद मुझे परिणाम से सूचित कीजिए। मैं आपकी पूरी मदद करना चाहता हूँ। आप प्रो. गोखले से तो मिलेंगे ही। मेरे पास आप जब आना चाहें, निःसंकोच आइए।"

लोकमान्य का यह मेरा प्रथम दर्शन था। मैं उनकी लोकप्रियता का कारण तुरन्त समझ गया।

यहाँ से मैं गोखले के पास गया। फर्ग्यूसन कोलेज में थे। मुझसे बड़े प्रेम से मिले और मुझे अपना बना लिया। उनसे भी मेरा यह पहला ही परिचय था। पर ऐसा जान पड़ा, मानो हम पहले मिल चुके हों। सर फीरोजशाह मुझे हिमालय-जैसे, लोकमान्य समुद्र-जैसे और गोखले गंगा-जैसे लगे। गंगा में मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ा नहीं जा सकता था। समुद्र में डूबने का डर था। गंगा की गोद में तो खेला जा सकता था। उसमें डोंगियाँ लेकर सैर की जा सकती थी। गोखले ने बारीकी से मेरी जाँच की – उसी तरह, जिस तरह स्कूल में भरती होते समय किसी विद्यार्थी की की जाती है। उन्होंने मुझे बताया कि मैं किस-किस से और कैसे मिलूँ और मेरा भाषण देखने को माँगा। मुझे कोलेज की व्यवस्था दिखायी। जब ज़रूरत हो तब फिर मिलने को कहा। डॉ॰ भाण्डारकर के जवाब की खबर देने को कहा और मुझे बिदा किया। मेरी खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा।

रामकृष्ण भाण्डारकर ने मेरा वैसा ही स्वागत किया, जैसा कोई बाप बेटे का करता है। उनके यहाँ गया तब दुपहरी का समय था। ऐसे समय में भी मैं अपना काम कर रहा था, वह चीज़ ही उस उद्यमी शास्त्रज्ञ को प्यारी लगी। और तटस्थ सभापति के लिए मेरे आग्रह की बात सुनकर 'देट्स इट, देट्स इट' (यह ठीक है, यह ठीक है) के उद्‌गार उनके मुँह से सहज ही निकल पड़े।

बिना किसी हो-हल्ले और आडम्बर के एक सादे मकान में पूना की इस विद्वान और त्यागी मण्डली ने सभा की, और मुझे सम्पूर्ण प्रोत्साहन के साथ बिदा किया।

वहाँ से मैं मद्रास गया। मद्रास तो पागल हो उठा। बालासुन्दरम् के किस्से का सभा पर गहरा असर पड़ा। मेरे लिए मेरा भाषण अपेक्षाकृत लम्बा था। पूरा छपा हुआ था। पर सभा ने

उसका एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक सुना। सभा के अंत में उस *हरी पुस्तिका* पर लोग टूट पड़े। मद्रास में संशोधन और परिवर्धन के साथ उसकी दूसरी आवृत्ति दस हज़ार की छपायी थी। उसका अधिकांश निकल गया।

इतने में डरबन से तार मिला : "पार्लियामेण्ट जनवरी में बैठेगी। जल्दी लौटिये।

दादा अब्दुल्ला ने स्वयं 'कुरलैण्ड' नाम का स्टीमर खरीद लिया था। उन्होंने उसमें मुझे और मेरे परिवार को मुफ़्त ले जाने का आग्रह किया । मैंने उसे धन्यवाद-सहित स्वीकार कर लिया, और दिसम्बर के आरंभ में 'कुरलैण्ड' स्टीमर से अपनी धर्मपत्नी, दो लड़कों और अपने स्व॰ बहनोई के एकमात्र लड़के को लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ़्रीका के लिए रवाना हुआ। इस स्टीमर के साथ ही दूसरा 'नादरी' स्टीमर भी डरबन के लिए रवाना हुआ। दादा अब्दुल्ला उसके एजेन्ट थे। दोनों स्टीमरों में कुल मिलाकर क़रीब ८०० हिन्दुस्तानी यात्री रहे होंगे। उनमें आधे से अधिक लोग ट्रान्सवाल जाने वाले थे।

भाग-६: वापस दक्षिण अफ़्रीका

२९. दक्षिण अफ़्रीका में आगमन और तूफ़ान

अठारह दिसम्बर के आसपास दोनों स्टीमरों ने लंगर डाले। दक्षिण अफ़्रीका के बन्दरगाहों में यात्रियों के स्वास्थ्य की पूरी जाँच की जाती है। यदि रास्ते में किसीको कोई छूतवाली बीमारी हुई हो, तो स्टीमर को सूतक में – क्वारण्टीन में – रखा जाता है। हमारे बम्बई छोड़ते समय वहाँ प्लेग की शिकायत थी, इसलिए हमें इस बात का डर ज़रूर था कि सूतक की कुछ बाधा होगी।

डोक्टर आये। जाँच करके उन्होंने पाँच दिन का सूतक घोषित किया, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेग के कीटाणु तेईस दिन तक जिन्दा रह सकते हैं। इसलिए उन्होंने ऐसा आदेश दिया कि बम्बई छोड़ने के बाद तेईस दिन की अवधि पूरी होने तक स्टीमरों को सूतक में रखा जाए।

पर इस सूतक की आज्ञा का हेतु केवल स्वास्थ्य-रक्षा न था। डरबन के गोरे नागरिक हमें उलटे पैरों लौटा देने का जो आन्दोलन कर रहे थे, वह भी इस आज्ञा के मूल में एक कारण था ।

दादा अब्दुल्ला की तरफ से हमें शहर में चल रहे इस आन्दोलन की खबरें मिलती रहती थीं। गोरे लोग एक के बाद दूसरी विराट सभायें कर रहे थे। दादा अब्दुल्ला के नाम धमकियाँ भेजते थे, उन्हें लालच भी देते थे। अगर दादा अब्दुल्ला दोनों स्टीमरों को वापस ले जाएँ, तो गोरे नुक़सान को भरपाई करने को तैयार थे। दादा अब्दुल्ला किसी की धमकी से डरने वाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अब्दुल करीम हाजी आदम दुकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि कितना ही नुक़सान क्यों न उठाना पड़े, वे स्टीमरों को बन्दर पर लाएँगे और यात्रियों को उतारेंगे। मेरे नाम उनके विस्तृत पत्र बराबर आते रहते थे। सौभाग्य से इस समय स्व॰ मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझसे मिलने के लिए डरबन आ पहुँचे थे। वे होशियार और बहादुर आदमी थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी कौम को नेक सलाह दी। मि. लाटन वकील थे। वे भी वैसे ही बहादुर थे। उन्होंने गोरों की करतूतों की निन्दा

की और इस अवसर पर कौम को जो सलाह दी, वह सिर्फ़ वकील के नाते पैसे लेकर नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्र के नाते दी।

इस प्रकार डरबन में द्वंद्व-युद्ध छिड़ गया। एक ओर मुट्ठीभर ग़रीब हिन्दुस्तानी और उनके इने-गिने अंग्रेज़ मित्र थे; दूसरी ओर धनबल प्रतिपक्षियों को राज्य का बल भी प्राप्त हो गया था, क्योंकि नाताल की सरकार ने खुल्लमखुल्ला उनकी मदद की थी। मि. हेरी एस्कम्ब ने, जो मंत्रि-मंडल में थे और उसके कर्ताधर्ता थे, इन गोरों की सभाओं में प्रकट रूप से हिस्सा लिया।

यात्रियों के मनोरंजन के लिए स्टीमर पर खेलों का प्रबंध किया गया था। मैं आनंद में सम्मिलित हुआ था, पर मेरा दिल तो डरबन में चल रही लड़ाई में ही लगा हुआ था, क्योंकि इस हमले में मध्यबिन्दु मैं था। मुझ पर दो आरोप थे :

१. मैंने हिन्दुस्तान में नाताल-वासी गोरों की अनुचित निन्दा की थी;

२. मैं नाताल को हिन्दुस्तानियों से भर देना चाहता था, और इसलिए खासकर नाताल में बसाने के लिए हिन्दुस्तानियों को 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' में भर लाया था।

मुझे अपनी जिम्मेदारी का ख़याल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्ला भारी नुक़सान में पड़ गये थे। यात्रियों के प्राण संकट में थे। और अपने परिवार को साथ लाकर मैंने उसे भी दुःख में डाल दिया था।

पर मैं स्वयं बिलकुल निर्दोष था। मैंने किसीको नाताल आने के लिए ललचाया नहीं था। 'नादरी' के यात्रियों को मैं पहचानता भी न था। 'कुरलैण्ड' में अपने दो-तीन रिश्तेदारों को छोड़कर बाकी के सैकड़ों यात्रियों के नामधाम तक मैं जानता न था। मैंने हिन्दुस्तान में नाताल के अंग्रेज़ों के विषय में ऐसा एक भी शब्द नहीं कहा, जो मैं नाताल में कह न चुका था। और जो कुछ मैंने कहा था, उसके लिए मेरे पास काफ़ी प्रमाण थे।

अंत में, तेईस दिन के बाद स्टीमरों को मुक्ति मिली और यात्रिकों को उत्तरने का आदेश मिला।

जहाज़ धक्के पर लगा। यात्री उतरे। पर मेरे बारे में मि. एस्कम्ब ने कप्तान से कहलाया था : "गांधी को और उनके परिवार को शाम के समय उतारियेगा। उनके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो गये हैं और उनके प्राण संकट में हैं। पोर्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट मि. टेटम उन्हें शाम को अपने साथ ले जाएँगे।"

कप्तान ने मुझे इस सन्देश की खबर दी। मैंने तदनुसार चलना स्वीकार किया। लेकिन इस सन्देश को मिले आधा घंटा भी न हुआ था कि इतने में मि. लाटन आये और कप्तान से मिलकर बोले, "यदि मि. गांधी मेरे साथ चलें, तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले जाना चाहता हूँ। स्टीमर के एजेण्ट के वकील के नाते मैं आपसे कहता हूँ कि मि. गांधी के बारे में जो सन्देश आपको मिला है उसके बन्धन से आप मुक्त हैं।" इस प्रकार कप्तान से बातचीत करके वे मेरे पास आये और मुझसे कुछ इस मतलब की बातें कहीं : "आपको जीवन का डर न हो, तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ी में रुस्तमजी सेठ के घर जाएँ और आप तथा मैं आम रास्ते से पैदल चलें। मुझे यह बिलकुल अच्छा नहीं लगता कि आप अँधेरा होने पर चुपचाप शहर में दाख़िल हों। मेरा ख़याल है कि आपका बाल भी बाँका न होगा। अब तो सब कुछ शान्त है। गोरे सब तितर-बितर हो गये हैं। पर कुछ भी क्यों न हो, मेरी राय है कि आपको छिपे तौर पर शहर में कभी न जाना चाहिए।"

मैं सहमत हो गया। मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ीं में बैठकर रुस्तमजी सेठ के घर सही-सलामत पहुँच गये। कप्तान की अनुमति लेकर मैं मि. लाटन के साथ उतरा। रुस्तमजी सेठ का घर वहाँ से लगअग दो मील दूर था।

जैसे ही हम जहाज़ से उतरे, कुछ लड़कों ने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने लगे तुरन्त ही कुछ लोग इकट्ठा हो गये और चिल्लाहट बढ़ गयी। मि. लाटन ने देखा कि भीड़ बढ़ जाएगी, इसलिए उन्होंने रिक्शा मँगवाया। मुझे उसमें बैठना कभी अच्छा न लगता था। उस पर सवार होने का मुझे यह पहला ही अनुभव होने जा रहा था। पर लड़के क्यों बैठने देते? उन्होंने रिक्शावाले को धमकाया और वह भाग खड़ा हुआ।

हम आगे बढ़े। भीड़ भी बढ़ती गयी। खासी भीड़ जमा हो गयी। सबसे पहले तो भीड़ वालों ने मुझे मि. लाटन से अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकरों और सड़े अण्डों की वर्षा शुरू हुई। किसीने मेरी पगड़ी उछाल कर फेंक दी। फिर लातें शुरू हुई।

मुझे गश आ गया। मैंने पास के घर की जाली पकड़ ली और दम लिया। वहाँ खड़ा रहना तो संभव ही न था। तमाचे पड़ने लगे।

इतने में पुलिस अधिकारी की स्त्री, जो मुझे पहचानती थी, उस रास्ते से गुजरी। मुझे देखते ही वह मेरी बगल में आकर खड़ी हो गयी और धूप के न रहते भी उसने अपनी छत्री खोल ली। इससे भीड़ कुछ नरम पड़ी। अब मुझ पर प्रहार करने हों, तो मिसेज एलेक्ज़ेण्डर को बचाकर ही किये जा सकते थे ।

इस बीच मुझ पर मार पड़ते देखकर कोई हिन्दुस्तानी नौजवान पुलिस थाने पर दौड़ गया। सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर ने एक टुकड़ी मुझे घेर कर बचा लेने के लिए भेजी। वह समय पर पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस थाने के पास ही होकर जाता था। सुपरिण्टेण्डेन्ट ने मुझे थाने में आश्रय लेने की सलाह दी। मैंने इनकार किया और कहा, “जब लोगों को अपनी भूल मालूम हो जाएगी, तो वे शान्त हो जाएँगे। मुझे उनकी न्यायबुद्धि पर विश्वास है।”

पुलिस के दस्ते के साथ मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजी के घर पहुँचा। मेरी पीठ पर छिपी मार पड़ी थी। एक जगह थोड़ा खून निकल आया था। स्टीमर के डोक्टर दादा बरज़ोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी सेवा-शुश्रूषा की।

यों भीतर शान्ति थी, पर बाहर गोरों ने घर को घेर लिया था। शाम हो चुकी थी। अंधेरा हो चला था। बाहर हज़ारों लोग तीखी आवाज़ में शोर कर रहे थे और “गांधी को हमें सौंप दो” की पुकार मचा रहे थे। परिस्थिति का ख़याल करके सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर वहाँ पहुँच गये थे और भीड़ को धमकी से नहीं, बल्कि उसका मन बहलाकर वश में रख रहे थे।

फिर भी वे निश्चिन्त तो नहीं थे। उन्होंने मुझे इस आशय का संदेशा भेजा : यदि आप अपने मित्र के मकान, माल-असबाब और अपने बाल-बच्चों को बचाना चाहते हों, तो जिस तरह मैं कहूँ उस तरह आपको इस घर से छिपे तौर पर निकल जाना चाहिए।"

मैंने हिन्दुस्तानी सिपाही की वर्दी पहनी। कभी सिर पर मार पड़े तो उससे बचने के लिए माथे पर पीतल की एक तश्तरी रखी और ऊपर से मद्रासी तर्ज का बड़ा साफा बाँधा। साथ में खुफ़ीया पुलिस के दो जवान थे। उनमें से एक ने हिन्दुस्तानी व्यापारी की पोशाक पहनी और अपना चेहरा हिन्दुस्तानी की तरह रंग लिया। दूसरे ने क्या पहना, सो मैं भूल गया हूँ। हम बगल की गली में होकर पड़ोस की एक दुकान में पहुँचे और गोदाम में लगी हुई बोरों की थप्पियों को अँधेरे में लाँगते हुए दुकान के दरवाजे से भीड़ में घुस कर आगे निकल गये। गली के नुक्कड़ पर गाड़ी खड़ी थी उसमें बैठाकर मुझे अब उसी थाने में ले गये, जिसमें आश्रय लेने की सलाह सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर ने पहले दी थी। मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर को और खुफ़ीया पुलिस के अधिकारियों को धन्यवाद दिया।

इस प्रकार जब एक तरफ से मुझे ले जाया जा रहा था, तब दूसरी तरफ सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर भीड़ से गाना गवा रहे थे। उस गीत का अनुवाद यह है;

चलो, हम गांधी को फाँसी लटका दें,
इमली के उस पेड़ पर फाँसी लटका दे।

जब सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर को मेरे सही-सलामत थाने पर पहुँच जाने की खबर मिली तो उन्होंने भीड़ से कहा: "आपका शिकार तो इस दुकान में से सही-सलामत निकल भागा है।" भीड़ में किसीको गुस्सा आया, कोई हँसा, बहुतों ने इस बात को मानने से इनकार किया।

इस पर सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर ने कहा, "तो आप लोग अपने में से जिसे नियुक्त कर दें उसे मैं अन्दर ले जाऊँ और वह तलाश करके देख ले। अगर आप गांधी को ढूँढ़ निकालें, तो मैं उसे आपके हवाले कर दूँगा। न ढूँढ सकें तो आपको बिखर जाना होगा। मुझे यह विश्वास तो है

ही कि आप पारसी रुस्तमजी का मकान हरगिज़ नहीं जलायेंगे और न गांधी के स्त्री-बच्चों को कष्ट पहुँचायेंगे।"

भीड़ ने प्रतिनिधि नियुक्त किये। उन्होंने तलाश के बाद उसे निराशाजनक समाचार सुनाये। सब सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर की सूझ-बूझ और चतुराई की प्रशंसा करते हुए, पर मन-ही-मन कुछ गुस्सा होते हुए, बिखर गये।

उस समय के उपनिवेश-मंत्री स्व॰ मि. चेम्बरलेन ने जो उस समय संस्थानों के प्रतिनिधि थे; तार द्वारा सूचित किया कि मुझ पर हमला करने वालों पर मुक़द्दमा चलाया जाएँ और मुझे न्याय दिलाया जाए। मि. एस्कम्ब ने मुझे अपने पास बुलाया। मुझे पहुँची हुई चोट के लिए खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "आप यह तो मानेंगे ही कि आपका बाल भी बाँका हो तो मुझे उससे कभी खुशी नहीं हों सकती। आपने मि. लाटन की सलाह मानकर तुरन्त उतर जाने का साहस किया। आपको ऐसा करने का हक था, पर आपने मेरे सन्देश को मान लिया होता, तो यह दुःखद घटना न घटती। अब अगर आप हमला करने वालों को पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ़्तार करवाने और उन पर मुक़द्दमा चलाने को तैयार हूँ। मि. चेम्बरलेन भी यही चाहते हैं।"

मैंने जवाब दिया: "मुझे किसी पर मुक़द्दमा नहीं चलाना है। सम्भव है, हमला करने वालों में से एक-दो को मैं पहचान लूँ, पर उन्हें सज़ा दिलाने से मुझे क्या लाभ होगा फिर, मैं हमला करने वालों को दोषी भी नहीं मानता। उन्हें तो यह कहा गया है कि मैंने हिन्दुस्तान में अतिशयोक्तिपूर्ण बातें कहकर नाताल के गोरों को बदनाम किया हैं। वे इस बात को मानकर गुस्सा हों, तो इसमें आश्चर्य क्या है? दोष तो बड़ों का और, मुझे कहने की इजाज़त दें तो, आपका माना जाना चाहिए। आप लोगों को सही रास्ता दिखा सकते थे, पर आपने भी रायटर के तार को ठीक माना और यह कल्पना कर ली कि मैंने अतिशयोक्ति की होगी। मुझे किसी पर मुक़द्दमा नहीं चलाना है। जब वस्तुस्थिति प्रकट होगी और लोगों को पता चलेगा, तो वे खुद पछतायेंगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे मि. चेम्बरलेन को इस आशय का तार भेजना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि आप जल्दी में कुछ लिखकर दे-दें। मेरी इच्छा ये है कि आप

मि. लाटन से और अपने दूसरे मित्रों से सलाह करके जो उचित जान पड़े सो करें। हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि आप हमला करने वालों पर मुक़द्दमा नहीं चलायेंगे, तो सब ओर शांति स्थापित करने में मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो निश्चय ही बढ़ेगी।"

मैंने जवाब दिया, "इस विषय में मेरे विचार पक्के हो चुके हैं। यह निश्चय समझिये कि मुझे किसी पर मुक़द्दमा नहीं चलाना है, इसलिए मैं आपको यहीं लिखकर दे देना चाहता हूँ।"

यह कहकर मैंने आवश्यक पत्र लिखकर दे दिया।

जिस दिन मैं जहाज़ से उतरा उसी दिन, 'नाताल एडवरटाइज़र' नामक पत्र का प्रतिनिधि मुझसे मिल गया था। उसने मुझे कई प्रश्न पूछे थे और उनके उत्तर में मैं प्रत्येक आरोप का पूरा-पूरा जवाब दे सका था। सर फीरोजशाह मेहता के प्रताप से उस समय मैंने हिन्दुस्तान में एक भी भाषण बिना लिखे नहीं किया था। अपने उन सब भाषणों और लेखों का संग्रह तो मेरे पास था ही। मैंने वह सब उसे दिया और सिद्ध कर दिखाया कि मैंने हिन्दुस्तान में ऐसी एक भी बात नहीं कही, जो अधिक तीव्र शब्दों में दक्षिण अफ़्रीका में न कही हो। मैंने यह भी बता दिया कि 'कुरलैण्ड और नादरी' के यात्रियों को लाने में मेरा हाथ बिलकुल न था। उनमें अधिकतर तो पुराने ही थे और बहुतेरे नाताल में रहने वाले नहीं थे बल्कि ट्रान्सवाल जाने वाले थे। उन दिनों नाताल में मन्दी थी। ट्रान्सवाल में बहुत अधिक कमाई होती थी। इस कारण अधिकतर हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इस खुलासे का और हमलावरों पर मुक़द्दमा दायर करने से मेरे इनकार करने का इतना ज़्यादा असर पड़ा कि गोरे शरमिन्दा हुए। समाचारपत्रों ने मुझे निर्दोष सिद्ध किया और हुल्लड़ करने वालों की निन्दा की। इस प्रकार परिणाम में तो मुझे लाभ ही हुआ, और मेरा लाभ मेरे कार्य का ही लाभ था। इससे भारतीय समाज की प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा मार्ग अधिक सरल हो गया।

तीन या चार दिन बाद मैं अपने घर गया और कुछ ही दिनों में व्यवस्थित रीति से अपना कामकाज करने लगा।

३०. बच्चों की शिक्षा और सेवावृत्ति

सन १८९७ की जनवरी में मैं डरबन उतरा, तब मेरे साथ तीन बालक थे। मेरा भानजा लगभग दस वर्ष की उमर का, मेरा बड़ा लड़का नौ वर्ष का और दूसरा लड़का पाँच वर्ष का। इन सबको कहाँ पढ़ाया जाएँ?

मैं अपने लड़कों को गोरों के लिए चलने वाले स्कूलों में भेज सकता था, पर वह केवल मेहरबानी और अपवाद-रूप होता। दूसरे सब हिन्दुस्तानी बालक वहाँ पढ़ नहीं सकते थे। हिन्दुस्तानी बालकों को पढ़ाने के लिए ईसाई मिशन के स्कूल थे, पर उनमें मैं अपने बालकों को भेजने के लिए तैयार न था। वहाँ दी जाने वाली शिक्षा मुझे पसन्द न थी। सारी शिक्षा अंग्रेज़ी में ही दी जाती थी, अथवा बहुत प्रयत्न किया जाता, तो अशुद्ध तामिल या हिन्दी में दी जा सकती थी। पर इन और ऐसी अन्य त्रुटियों को सहन करना मेरे लिए सम्भव न था।

मैं स्वयं बालकों को पढ़ाने का थोड़ा प्रयत्न करता था।

मैं उन्हें देश भेजने के लिए तैयार न था। उस समय भी मेरा यह ख़याल था कि छोटे बच्चों को माता-पिता से अलग नहीं रहना चाहिए। सुव्यवस्थित घर में बालकों को जो शिक्षा सहज ही मिल जाती है, वह छात्रालयों में नहीं मिल सकती। अतएव अधिकतर वे मेरे साथ ही रहे।

लड़कों को मैं स्वयं जितना समय देना चाहता था उतना दे नहीं सका। इस कारण और दूसरी अनिवार्य परिस्थितियों के कारण मैं अपनी इच्छा के अनुसार उन्हें अक्षर-ज्ञान नहीं दे सका। इस विषय में मेरे सब लड़कों को न्यूनाधिक मात्रा में मुझसे शिकायत भी रही है, क्योंकि जब-जब वे 'बी. ए.', 'एम. ए.' और “मैट्रिक्युलेट' के भी सम्पर्क में आते, तब स्वयं किसी स्कूल में न पढ़ सकने की कमी का अनुभव करते थे।

तिस पर भी मेरी अपनी राय यह है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिता का जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रता का जो पदार्थपाठ नहें सीखने को मिला है, वह सब उन्हें न मिलता यदि मैंने उनको चाहे जिस तरह स्कूल भेजने का आग्रह रखा होता।

वे बालक और मेरे लड़के आज समान अवस्था के हैं। मैं नहीं मानता कि मनुष्यता में मेरे लड़कों से आगे बढ़े हुए हैं, अथवा उनसे मेरे लड़के कुछ अधिक सीख सकते हैं।

फिर भी, मेरे प्रयोग का अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। यहाँ इस विषय की चर्चा करने का हेतु तो यह है कि मनुष्य-जाति की उत्क्रांति अध्ययन करने वाले लोग गृह-शिक्षा और स्कूली शिक्षा के भेद का और माता-पिता द्वारा अपने जीवन में किये हुए परिवर्तनों का उनके बालकों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका कुछ अंदाज़ लगा सकें।

मैंने स्वाभिमान का त्याग किया होता, दूसरे भारतीय बालक जिसे न पा सकें उसकी अपने बालकों के लिए इच्छा न रखने के विचार का पोषण न किया होता, तो मैं अपने बालकों को अक्षर-ज्ञान अवश्य दे सकता था। किन्तु उस दशा में स्वतंत्रता और स्वाभिमान का जो पदार्थ-पाठ वे सीखे वह न सीख पाते। और जहाँ स्वतंत्रता तथा अक्षर-ज्ञान के बीच ही चुनाव करना हो, वहाँ कौन कहेगा कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञान से हज़ार गुनी अधिक अच्छी नहीं है?

सन १९२० में जिन नौजवानों को मैंने स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कोलेजों को छोड़ने के लिए आमंत्रित किया था, और जिनसे मैंने कहा था कि स्वतंत्रता के लिए निरक्षर रहकर आम रास्ते पर गिट्टी फोड़ना गुलामी में रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने से कहीं अच्छा है, वे अब मेरे कथन के मर्म को कदाचित् समझ सकेंगे।

मन में हमेशा यह विचार बना रहता कि सेवा-शुश्रूषा का ऐसा कुछ काम मैं हमेशा करता रहूँ, तो कितना अच्छा हो! डोक्टर बूथ सेण्ट एडम्स मिशन के मुखिया थे। वे हमेशा अपने पास आने वालों को मुफ़्त दवा दिया करते थे। बहुत भले और दयालु आदमी थे। पारसी रुस्तमजी की दानशीलता के कारण डो. बूथ की देखरेख में एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इस अस्पताल में नर्स का काम करूँ ।

इस काम से मैं दुखी-दर्दी हिन्दुस्तानियों के निकट सम्पर्क में आया। उनमें से अधिकांश तामिल, तेलुगु अथवा उत्तर हिन्दुस्तान के गिरमिटिया होते थे।

यह अनुभव मेरे लिए भविष्य में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बौअर युद्ध के समय घायलों की सेवा-शुश्रूषा के काम में और दूसरे बीमारों की परिचर्या में मुझे इससे बड़ी मदद मिली। ।

३१. सादगी

धोबी का खर्च भी ज़्यादा मालूम हुआ। इसके अलावा, धोबी निश्चित समय पर कपड़े नहीं लौटाता था। इसलिए दो-तीन दर्जन क़मीज़ों और उतने ही कालरों से भी मेरा काम चल नहीं पाता था। कालर मैं रोज़ बदलता था। क़मीज़ रोज़ नहीं तो एक दिन के अन्तर से बदलता था इससे दोहरा खर्च होता था। मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ। अतएव मैंने धुलाई का सामान जुटाया। धुलाई-कला पर पुस्तक पढ़ी और धोना सीखा। पत्नी को भी सिखाया। काम का कुछ बोझ ते बढ़ा ही, पर नया काम होने से उसे करने में आनन्द आता था।

पहली बार अपने हाथों धोये हुए कालर को तो मैं कभी भूल नहीं सकता । उसमें कलफ अधिक लग गया था और इस्तरी पूरी गरम नहीं थी। तिस पर कालर के जल जाने के डर से इस्तरी को मैंने अच्छी तरह दबाया भी नहीं था। इससे कालर में कड़ापन तो आ गया, पर उसमें से कलफ झड़ता रहता था! ऐसी हालत में मैं कोर्ट गया और वहाँ बारिस्टरों के लिए मज़ाक का साधन बन गया । पर इस तरह का मज़ाक सह लेने की शक्ति उस समय भी मुझ में काफ़ी थी।

मैंने सफ़ाई देते हुए कहा, “अपने हाथों कालर धोने का मेरा यह पहला प्रयोग है, इस कारण इसमें से कलफ झड़ता है। मुझे इससे कोई अड़चन नहीं होती; तिस पर आप सब लोगों के लिए विनोद की इतनी सामग्री जुटा रहा हूँ, सो घाते में।

एक मित्र ने पूछा, “पर क्या धोबियों का अकाल पड़ गया है?”

“यहाँ धोबी का खर्च मुझे तो असह्य मालूम होता है। कालर की कीमत के बराबर धुलाई हो जाती है और इतनी धुलाई देने के बाद भी धोबी की गुलागी करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा अपने हाथ से धोना मैं ज़्यादा पसन्द करता हूँ ।"

जिस तरह मैं धोबी की गुलामी से छूटा, उसी तरह नाई की गुलामी से भी छूटने का अवसर आ गया। हजामत तो विलायत जाने वाले सब कोई हाथ से बनाना सीख ही लेते हैं, पर कोई बाल छाँटना भी सीखता होगा, इसका मुझे ख़याल नहीं है। एक बार प्रिटोरिया में मैं एक अंग्रेज़ हज्जाम

की दुकान पर पहुँचा। उसने मेरी हजामत बनाने से साफ़ इनकार कर दिया और इनकार करते हुए जो तिरस्कार प्रकट किया, सो घाते में रहा। मुझे दुःख हुआ। में बाज़ार पहुँचा। मैंने बाल काटने की मशीन खरीदी और आईने के सामने खड़े रहकर बाल काटे। बाल जैसे-तैसे कट तो गये, पर पीछे के बाल काटने में बड़ी कठिनाई हुई। सीधे तो वे कट ही न पाये। कोर्ट में खूब कहकहे लगे।

तुम्हारे बाल ऐसे क्यों हो गये हैं? सिर पर चूहे तो नहीं चढ़ गये थे?"

मैंने कहा: "जी नहीं, मेरे काले सिर को गोरा हज्जाम कैसे छू सकता है? इसलिए कैसे भी क्यों न हों, अपने हाथ से काटे हुए बाल मुझे अधिक प्रिय हैं।"

इस उत्तर से मित्रों को आश्चर्य नहीं हुआ। असल में उस हज्जाम का कोई दोष न था। अगर वह काली चमड़ी वालों के बाल काटने लगता तो उसकी रोज़ी मारी जाती। हम भी अपने अछूतों के बाल ऊँची जाति के हिन्दुओं के हज्जामों को कहाँ काटने देते हैं? दक्षिण अफ़्रीका में मुझे इसका बदला एक नहीं, अनेकों बार मिला है; और चूँकि मैं यह मानता था कि यह हमारे दोष का परिणाम है, इसलिए मुझे इस बात से कभी गुस्सा नहीं आया।

३२. एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित्त

मेरे जीवन में ऐसी घटनायें घटती ही रही हैं, जिनके कारण मैं अनेक धर्मावलम्बियों के और अनेक जातियों के गाढ़ परिचय में आ सका हूँ। इन सबके अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मैंने अपने और पराये, देशी और विदेशी, गोरे और काले, हिन्दु और मुसलमान अथवा ईसाई, पारसी या यहूदी के बीच कोई भेद नहीं किया। मैं कह सकता हूँ कि मेरा हृदय ऐसे भेद को पहचान ही न सका। अपने संबंध में मैं इस चीज़ को गुण नहीं मानता, क्योंकि यह मेरे स्वभाव में ही है।

जब मैं डरबन में वकालत करता था, तब अकसर मेरे मुहर्रिर मेरे साथ रहते थे। उनमें हिन्दू और ईसाई थे अथवा प्रान्त की दृष्टि से कहूँ तो गुजराती और मद्रासी थे। मुझे स्मरण नहीं है कि उनके बारे में मेरे मन में कभी भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें अपना कूटुम्बी मानता था और यदि पत्नी की ओर से इसमें कोई बाधा आती तो मैं उससे लड़ता था। एक मुहर्रिर ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम जाति के थे। हमारे घर की बनावट पश्चिमी ढब की थी। उसमें कमरों के अन्दर मोरियाँ नहीं होतीं – मैं मानता हूँ कि होनी भी नहीं चाहिए। – इससे हरएक कमरे में मोरी की जगह पेशाब के लिए खास बरतन रखा जाता है। उसे उठाने का काम नौकर का न था, बल्कि हम पति-पत्नी का था। जो मुहर्रिर अपने को घरका-सा मानने लगते, वे तो अपने बरतन खुद उठाते भी थे। यह पंचम काल में उत्पन्न मुहर्रिर नया था। उसका बरतन हमें ही उठाना चाहिए था। कस्तूरबाई दूसरे बरतन तो उठाती थी, पर इस बरतन को उठाना उसे असह्य लगा। इससे हमारे बीच कलह हुआ। मेरा उठाना उससे सहा न जाता था और खुद उठाना उसे भारी हो गया था। आँखों से मोती की बूँदें टपकाती, हाथ में बरतन उठाती और अपनी लाल आँखों से मुझे उलाहना देकर सीढ़ियाँ उतरती हुई कस्तूरबाई का चित्र मैं आज भी खींच सकता हूँ।

पर मैं तो जितना प्रेमी उतना ही क्रूर पति था। मैं अपने को उसका शिक्षक भी मानता था, इस कारण अपने अंधे प्रेम के वश होकर उसे खूब सताता था।

यों उसके सिर्फ़ बरतन उठाकर ले जाने से मुझे संतोष न हुआ। मुझे संतोष तभी होता जब वह उसे हँसते मुँह ले जाती। इसलिए मैंने दो बातें ऊँची आवाज़ में कहीं। मैं बड़बड़ा उठा, "यह कलह मेरे घर में नहीं चलेगा।"

यह वचन कस्तूरबाई को तीर की तरह चुभ गया।

वह भड़क उठी: "तो अपना घर अपने पास रखो। मैं यह चली।"

मैं उस समय भगवान को भूल बैठा था। मुझमें दया का लेश भी नहीं रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ियों के सामने ही बाहर निकलने का दरवाज़ा था। मैं उस असहाय अबला को पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाज़ा आधा खोला।

कस्तूरबाई की आँखों से गंगा-यमुना बह रही थीं। वह बोली :

"तुम्हें तो शरम नहीं है। लेकिन मुझे है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहाँ जा सकती हूँ? यहाँ मेरे माँ-बाप नहीं है कि उनके घर चली जाऊँ। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, इसलिए मुझे तुम्हारी डाँट-फटकार सहनी ही होगी। अब शरमाओ और दरवाज़ा बन्द करो। कोई देखेगा तो दो में से एक की भी शोभा नहीं रहेगी।"

मैंने मुँह तो लाल रखा, पर शरमिन्दा ज़रूर हुआ। दरवाज़ा बन्द कर दिया। यदि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, पर परिणाम सदा शुभ ही रहा है। पत्नी ने अपनी अद्भुत सहनशक्ति द्वारा विजय प्राप्त की है।

मैं यह वर्णन आज तटस्थ भाव से कर सकता हूँ, क्योंकि यह घटना हमारे बीते युग की है। आज मैं मोहान्ध पति नहीं हूँ। शिक्षक नहीं हूँ। कस्तूरबाई चाहे तो मुझे आज धमका सकती है। आज हम परखे हुए मित्र हैं, एक-दूसरे के प्रति निर्विकार बनकर रहते हैं।

३३. बोअर-युद्ध

सन १८९७ से १८९९ के बीच के अपने जीवन के दूसरे अनेक अनुभवों को छोड़कर अब मैं बोअर-युद्ध पर आता हूँ। जब यह युद्ध हुआ तब मेरी अपनी सहानुभूति केवल बोअरों की तरफ ही थी। पर मैं मानता था कि ऐसे मामलों में व्यक्तिगत विचारों के अनुसार काम करने का अधिकार मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इस संबंध के मन्थन-चिन्तन का सूक्ष्म निरीक्षण मैंने *दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह* का इतिहास में किया है, इसलिए यहाँ नहीं करना चाहता। जिज्ञासुओं को मेरी सलाह है कि वे उस इतिहास को पढ़ जाएँ। यहाँ तो इतना ही कहना काफ़ी होगा कि ब्रिटिश राज्य के प्रति मेरी वफ़ादारी मुझे उस युद्ध में सम्मिलित होने के लिए ज़बरदस्ती घसीट ले गयी। मैंने अनुभव किया कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाजन के नाते अधिकार माँग रहा हूँ, तो उसी नाते ब्रिटिश राज्य की रक्षा में हाथ बँटाना भी मेरा धर्म है। उस समय मेरी यह राय थी कि हिन्दुस्तान की सम्पूर्ण उन्नति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्दर रहकर हो सकती है।

अतएव जितने साथी मिले उतनों को लेकर और अनेक कठिनाइयाँ सहकर हमने घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली एक टुकड़ी खड़ी की। अब तक साधारणतया यहाँ के अंग्रेज़ों की यही धारणा थी कि हिन्दुस्तानी संकट के कामों में नही पड़ते। उन्हें स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कई अंग्रेज़ मित्रों ने मुझे निराश करने वाले उत्तर दिये थे। अकेले डोक्टर बूथ ने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओं की सार-संभाल करना सिखाया। अपनी योग्यता के विषय में हमने डोक्टरी प्रमाणपत्र प्राप्त किये। मि. लाटन और स्व० मि. एस्कम्ब ने भी हमारे इस कार्य को पसन्द किया। अन्त में लड़ाई के समय सेवा करने देने के लिए हमने सरकार से बिनती की।

हमारी इस टुकड़ी में लगभग ग्यारह सौ आदमी थे। उनमें क़रीब चालीस मुखिया थे। दूसरे कोई तीन सौ स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भी रंगरूटों में भरती हुए थे । बाकी के गिरमिटिये थे। डो. बूथ भी हमारे साथ थे। उस टुकड़ी ने अच्छा काम किया। यद्यपि उसे गोला-बारूद की हद के बाहर ही काम करना होता था और 'रेड क्रोस'[१०] का संरक्षण प्राप्त था, फिर भी संकट के समय गोला-

बारूद की सीमा के अन्दर काम करने का अवसर भी हमें मिला। ऐसे संकट में न पड़ने का इकरार सरकार ने अपनी इच्छा से हमारे साथ किया था, पर स्पियांकोप की हार के बाद हालत बदल गयी। इसलिए जनरल बुलर ने यह संदेशा भेजा कि यद्यपि आप लोग जोखिम उठाने के लिए वचन-बद्ध नहीं हैं, तो भी यदि आप जोखिम उठाकर घायल सिपाहियों और अफ़सरों को रणक्षेत्र से उठाकर और डोलियों में डालकर ले जाने को तैयार हो जाएँगे, तो सरकार आपका उपकार मानेगी। हम तो जोखिम उठाने को तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोप की लड़ाई के बाद हम गोला-बारूद की सीमा के अन्दर काम करने लगे।

इन दिनों सबको कई बार दिन में बीस-पचीस मील की मंज़िल तय करनी पड़ती थी और एक बार तो घायलों को डोली में डालकर इतने मील चलना पड़ा था। जिन घायल योद्धाओं को हमें इस प्रकार उठाकर ले जाना पड़ा, उनमें जनरल वुडगेट बगैरा भी थे।

छह हफ़्तों के बाद हमारी टुकड़ी को बिदा दी गयी।

हमारे छोटे-से काम की उस समय तो बड़ी स्तुति हुई। इससे हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा बढ़ी। वहाँ के समाचारपत्रों में स्तुति काव्य लिखे गये। उसकी ध्रुव पंक्ति यह थी : “आख़िरकार तो हम सभी एक ही राज्य के बालबच्चे हैं।” 'आख़िर हिन्दुस्तानी साम्राज्य के बारिस तो हैं ही’ जनरल बुलर ने अपने खरीते में हमारी टुकड़ी के काम की तारीफ़ की। मुखियों को युद्ध के पदक भी मिले।

इससे हिन्दुस्तानी कौम अधिक संगठित हो गयी। मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों के बहुत अधिक सम्पर्क में आ सका। उनमें अधिक जागृति आयी और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिन्धी सब हिन्दुस्तानी हैं, यह भावना अधिक दृढ़ हुई। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियों के दुःख दूर होने ही चाहिए। उस समय तो गोरों के व्यवहार में भी स्पष्ट परिवर्तन दिखायी दिया।

लड़ाई में गोरों के साथ जो सम्पर्क हुआ वह मधुर था। हमें हज़ारों 'टोमियों’ के साथ रहने का मौक़ा मिला। वे हमारे साथ मित्रता का व्यवहार करते थे, और यह जानकर कि हम उनकी सेवा के लिए आये हैं, हमारा उपकार मानते थे।

दु:ख के समय मनुष्य का स्वभाव किस तरह पिघलता है, इसका एक मधुर संस्मरण यहाँ दिए बिना मैं रह नहीं सकता । हम चीवली छावनी की तरफ जा रहे थे । यह वही क्षेत्र था, जहाँ लोर्ड रोबर्ट्स के पुत्र लेफ्टिनेण्ट रोबर्ट्स को प्राणघातक चोट लगी थी । लेफ्टिनेण्ट रोबर्ट्स के शब को ले जाने का सम्मान हमारी टुकड़ी को मिला था । अगले दिन धूप तेज थी । हम कूच कर रहे थे । सब प्यासे थे। पानी पीने के लिए रास्ते में एक छोटा-सा झरना पड़ा। पहले पानी कौन पीये? मैंने सोचा कि पहले टोंगी पानी पी लें, बाद में हम पियेंगे। पर टोमियों ने हमें देखकर तुरन्त हमसे पानी पी लेने का आग्रह शुरू किया, और इस तरह बड़ी देर तक हमारे बीच 'आप पहले, हम पीछे' का मीठा झगड़ा चलता रहा।

---

१० 'रेड क्रोस' का अर्थ है, लाल स्वस्तिक। युद्ध में शुश्रूषा का काम करने वालों के बायें हाथ पर इस चिह्नवाली पट्टी बाँधी जाती है । नियम यह है कि शत्रु भी उन्हें चोट नहीं पहुँचा सकता। अधिक विवरण के लिए देखिये, *दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रह का इतिहास* – भाग – १, प्रकरण ९ ।

३४. नगर सफ़ाई-आन्दोलन

समाज के एक भी अंग का निरुपयोगी रहना मुझे हमेशा अखरा है। जनता के दोष छिपाकर उसका बचाव करना अथवा दोष दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर लगा है। इसलिए दक्षिण अफ़्रीका में रहने वाले हिन्दुस्तानियों पर लगाये जाने वाले एक आरोप का, जिसमें कुछ तथ्य था, इलाज करने का काम मैंने वहाँ के अपने निवासकाल में ही सोच लिया था। हिन्दुस्तानियों पर जब-तब यह आरोप लगाया जाता था कि वे अपने घर-बार साफ़ नहीं रखते और बहुत गन्दे रहते हैं। इस आरोप को निःशेष करने के लिए आरम्भ में हिन्दुस्तानियों के मुखिया माने जाने वाले लोगों के घरों में तो सुधार आरम्भ हो ही चुके थे। पर घर-घर घूमने का सिलसिला तब शुरू हुआ जब डरबन में प्लेग के प्रकोप का डर पैदा हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटी के अधिकारियों का भी सहयोग और सम्मति थी। हमारी सहायता मिलने से उनका काम हलका हो गया और हिन्दुस्तानियों को कम कष्ट उठाने पड़े!

मुझे कुछ कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकार से अधिकारों की माँग करने में जितनी सरलता से मैं अपने समाज की सहायता पा सकता था, उतनी सरलता से लोगों से उनके कर्तव्य का पालन कराने के काम में सहायता प्राप्त न कर सका। कुछ जगहों पर मेरा अपमान किया जाता, कुछ जगहों पर विनय-पूर्वक उपेक्षा का परिचय दिया जाता। गन्दगी साफ़ करने के लिए कष्ट उठाना उन्हें बहुत अखरता था। तब जैसा खर्च करने की तो बात ही क्या? लोगों से कुछ भी काम कराना हो तो धीरज रखना चाहिए, यह पाठ मैंने अच्छी तरह सीख लिया। सुधार की ग़रज़ तो सुधारक की अपनी होती है। जिस समाज में वह सुधार कराना चाहता है, उससे तो उसे विरोध, तिरस्कार और प्राणों के संकट की भी आशा रखनी चाहिए। सुधारक जिसे सुधार मानता है, समाज उसे बिगाड़ क्यों न माने?

इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में घर-बार साफ़ रखने के महत्त्व को न्यूनाधिक मात्रा में स्वीकार कर लिया गया। अधिकारियों की दृष्टि में मेरी साख बढ़ी। वे समझ गये कि मेरा धन्धा केवल शिकायतें करना या अधिकार माँगने का ही नहीं है; बल्कि शिकायतें

करने या अधिकार माँगने में मैं जितना तत्पर हूँ, उतना ही उत्साह और दृढ़ता भीतरी सुधार के लिए भी मुझ में है।

३५. देश-गमन और कीमती भेंटसौगाद

लड़ाई के काम से मुक्त होने के बाद मैंने अनुभव किया कि अब मेरा काम दक्षिण अफ़्रीका में नहीं, बल्कि हिन्दुस्तान में है। मैंने देखा कि दक्षिण अफ़्रीका में बैठा-बैठा मैं कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूँगा!

मुझे भी लगा कि देश जाने से मेरा उपयोग अधिक हो सकेगा।

मैंने साथियों के सामने मुक्त होने की इच्छा प्रकट की। बड़ी कठिनाई से एक शर्त के साथ वह स्वीकृत हुई। शर्त यह थी कि यदि एक वर्ष के अन्दर कौम को मेरी आवश्यकता मालूम हुई, तो मुझे वापस दक्षिण अफ़्रीका पहुँचना होगा : मुझे यह शर्त कड़ी लगी, पर मैं प्रेमपाश में बँधा हुआ था।

जगह-जगह मानपत्र समर्पण की सभायें हुई और हर जगह से कीमती भेंटें मिलीं।

भेंटों में सोनेचाँदी की चीज़ें तो थीं ही, पर हीरे की चीज़ें भी थीं।

इन सब चीज़ों को स्वीकार करने का मुझे क्या अधिकार था? यदि मैं उन्हें स्वीकार करता तो अपने मन को यह कैसे समझाता कि कौम की सेवा मैं पैसे लेकर नहीं करता? इन भेंटों में से मुवक्किलों की दी हुई थोड़ी चीज़ों को छोड़ दें, तो बाकी सब मेरी सार्वजनिक सेवा के निमित्त से ही मिली थीं। फिर, मेरे मन तो मुवक्किलों और दूसरे साथियों के बीच कोई भेद नहीं था। खास-खास सभी मुवक्किल सार्वजनिक कामों में भी मदद देने वाले थे।

साथ ही, इन भेंटों में पचास गिन्नियों का एक हार कस्तूरबाई के लिए था। पर वह वस्तु भी मेरी सेवा के कारण ही मिली थी। इसलिए वह दूसरी भेंटों से अलग नहीं की जा सकती थी।

जिस शाम को इनमें से मुख्य भेंटें मिली थीं, वह रात मैंने पागल की तरह जागकर बितायी। मैं अपने कमरे में चक्कर काटता रहा, पर उलझन किसी तरह सुलझती न थी। सैकडों की कीमत के उपहारों को छोड़ना कठिन मालूम होता था; रखना उससे भी अधिक कठिन लगता था।

मन प्रश्न करता : मैं शायद भेंटों को पचा पाऊँ, पर मेरे बच्चों का क्या होगा? स्त्री का क्या होगा? उन्हें शिक्षा तो सेवा की मिलती थी। उन्हें हमेशा समझाया जाता था कि सेवा के दाम नहीं लिए जा सकते। मैं घर में कीमती गहने बगैरा रखता नहीं था। सादगी बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थिति में सोने की घड़ियों का उपयोग कौन करता? सोने की ज़ंजीरें और हीरे की अंगूठियाँ कौन पहनता? मैं उस समय भी गहनों-गाँठों का मोह छोड़ने का उपदेश औरों को दिया करता था। अब इन गहनों और जवाहरात का मैं क्या करता?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मुझे ये चीज़ें रखनी ही नहीं चाहिए। पारसी रुस्तमजी आदि को इन गहनों का ट्रस्टी नियुक्त करके उनके नाम लिखे जाने वाले पत्र का मसविदा मैंने तैयार किया, और सबेरे स्त्री-पुत्रादि से सलाह करके अपना बोझ हलका करने का निश्चय किया।

मैं यह जानता था कि धर्मपत्नी को समझाना कठिन होगा। बच्चों को समझाने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी, इसका मुझे विश्वास था। अतः उन्हें इस मामले में वकील बनाने का मैंने निश्चय किया।

लड़के तो तुरन्त समझ गये। उन्होंने कहा, “हमें इन गहनों की आवश्यकता नहीं है। हमें ये सब लौटा ही देने चाहिए। और जीवन में कभी हमें इन वस्तुओं की आवश्यकता हुई, तो क्या हम स्वयं न खरीद सकेंगे?” ऐसा उनका कहना था।

मैं खुश हुआ। मैंने पूछा, “तो तुम अपनी माँ को समझाओगे न?”

“ज़रूर ज़रूर। यह काम हमारा समझिये। उसे कौन ये गहने पहनने हैं? वह तो हमारे लिए ही रखना चाहती है। हमें उनकी ज़रूरत नहीं है, फिर वह हठ क्यों करेगी?”

पर काम जितना सोचा था उससे अधिक कठिन सिद्ध हुआ।

“भले आपको ज़रूरत न हो और आपके लड़कों को भी न हो। बच्चों को तो जिस रास्ते लगा दो, उसी रास्ते वे लग जाते हैं। भले मुझे न पहनने दें, पर मेरी बहुओं का कया होगा? उनके तो ये चीज़ें काम आयेंगी न! और कौन जानता है कल क्या होगा? इतने प्रेम से दी गयी चीज़ें

वापस नहीं की जा सकतीं।" पत्नी की वाग्धारा चली और उसके साथ अश्रुधारा मिल गयी। बच्चे दृढ़ रहे। मुझे तो डिगना था ही नहीं।

मैंने धीरे से कहा : "लड़कों का ब्याह तो होने दो। हमें कौन उन्हें बचपन में ब्याहना है? बड़े होने पर तो ये स्वयं ही जो करना चाहेंगे, करेंगे। और हमें कहाँ गहनों की शौकीन बहुएँ खोजनी हैं? इतने पर भी कुछ कराना ही पड़ा, तो मैं कहाँ चला जाऊँगा?"

"जानती हूँ आपको। मेरे गहने भी तो आपने ही ले लिए न? जिन्होंने मुझे सुख से न पहनने दिये, वह मेरी बहुओं के लिए क्या लायेंगे? लड़कों को आप अभी से बैरागी बना रहे हैं! ये गहने वापस नहीं दिये जा सकते। और, मेरे हार पर आपका क्या अधिकार है?"

मैंने पूछा, "पर यह हार तुम्हारी सेवा के बदले में मिला है या मेरी सेवा के?"

"कुछ भी हो। आपकी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे आपने रात-दिन जो मज़दूरी करवायी वह क्या सेवा में शुमार न होगी? मुझे रुलाकर भी आपने हर किसीको घर में ठहराया और उसकी चाकरी करवायी, उसे क्या कहेंगे?"

ये सारे बाण नुकीले थे। इनमें से कुछ चुभते थे, पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत-सी बातों में मैं जैसे-तेसे कस्तूरबा की सहमति प्राप्त कर सका। १८९६ में और १९०१ में मिली हुई भेंटें मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और सार्वजनिक काम के लिए उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियों की इच्छा के अनुसार किया जाएँ, इस शर्त के साथ वे बैंक में रख दी गयीं। इन गहनों को बेचने के निमित्त से मैं कई बार पैसे इकट्ठा कर सका हूँ। आज भी आपत्ति-कोष के रूप में यह धन मौजूद है और उसमें वृद्धि होती रहती है।

अपने इस कार्य पर मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। दिन बीतने पर कस्तूरबा को भी इसके औचित्य की प्रतीति हो गयी। इससे हम बहुत से लालचों से बच गये हैं।

मेरा यह मत बना है कि सार्वजनिक सेवक के लिए निजी भेंटें नहीं हो सकतीं।

भाग-७ : देश में

३६. महासभा (काँग्रेस) प्रथम बार

हिन्दुस्तान पहुँचने पर थोड़ा समय मैंने घूमने-फिरने में बिताया। यह सन १९०१ का जमाना था। उस साल की काँग्रेस कलकत्ते में होने वाली थी। दीनशा एदलजी वाच्छा उसके अध्यक्ष थे। मुझे काँग्रेस में तो जाना था ही। काँग्रेस का यह मेरा पहला अनुभव था।

हम कलकत्ते पहुँचे। अध्यक्ष आदि नेताओं को नागरिक धूमधाम से ले गये। मैंने किसी स्वयंसेवक से पूछा, "मुझे कहाँ जाना चाहिए?"

वह मुझे रिपन कोलेज ले गया। वहाँ बहुत से प्रतिनिधि ठहराये गये थे।

स्वयंसेवक एक-दूसरे से टकराते रहते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता, वह स्वयं उसे नहीं करता था। वह तुरन्त दूसरे को पुकारता था। दूसरा तीसरे को। बेचारा प्रतिनिधि तो न तीन में होता, न तेरह में। नहीं छप्पन के मेल में।

गंदगी की हद नहीं थी। चारों तरफ पानी ही पानी फैल रहा था। पाखाने कम थे। उनकी दुर्गन्ध की याद आज भी मुझे हैरान करती है। मैंने एक स्वयंसेवक को यह सब दिखाया। उसने साफ़ इनकार करते हुए कहा, "यह तो भंगी का काम है।" मैंने झाड़ू माँगा। वह मेरा मुँह ताकता रहा। मैंने झाड़ू खोज निकाला। पाखाना साफ़ किया। पर यह तो मेरी अपनी सुविधा के लिए हुआ। भीड़ इतनी ज़्यादा थी और पाखाने इतने कम थे कि हर बार के उपयोग के बाद उनकी सफ़ाई होनी ज़रूरी थी। यह मेरी शक्ति के बाहर की बात थी। ।

काँग्रेस के अधिवेशन को एक-दो दिन की देर थी। मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेस के कार्यालय में मेरी सेवा स्वीकार की जाये, तो सेवा करूँ और अनुभव लूँ। ।

श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। मैं भूपेन्द्रबाबू के पास पहुँचा और सेवा की माँग की। उन्होंने मेरी ओर देखा और बोले :

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद मि. घोषाल आपको कुछ काम दे सकेंगे। उनके पास जाइये।"

मैं घोषालबाबू के पास गया। उन्होंने मुझे ध्यान से देखा और जरा हँसकर मुझसे पूछा :

"मेरे पास तो क्लर्क का काम है, आप करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया: "अवश्य करूँगा। मेरी शक्ति से बाहर न हो, ऐसा हर काम करने के लिए मैं आपके पास आया हूँ।"

"नौजवान, यही सच्ची भावना है ।"

और बगल में खड़े स्वयंसेवकों की ओर देखकर बोले :

"सुनते हो, यह युवक क्या कह रहा है?"

फिर मेरी ओर मुड़कर बोले :

"तो देखिये, यह तो है पत्रों का ढेर, और यह मेरे सामने कुर्सी है। इस पर आप बैठिये। आप देखते हैं कि मेरे पास सैकड़ों आदमी आते रहते हैं। मैं उनसे मिलूँ या इन बेकार पत्र लिखने वालों को उनके पत्रों का जवाब लिखूँ? मेरे पास ऐसे क्लर्क नहीं हैं, जिनसे यह काम ले सकूँ। इन सब पत्रों में से बहुतों में काम की एक भी बात नहीं होगी। पर आप सबको देख जाइये। जिसकी पहुँच भेजना उचित समझें उसकी पहुँच भेज दीजिए। जिसके जवाब के बारे में मुझसे पूछना ज़रूरी समझें, मुझे पूछ लीजिए।" मैं तो इस विश्वास से मुग्ध हो गया।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-धाम जानने का काम तो उन्होंने बाद में किया। मेरा इतिहास जानने के बाद तो मुझे क्लर्क का काम सौंपनें के लिए वे कुछ लज्जित हुए। पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया :

"कहाँ आप और कहाँ मैं? आप काँग्रेस के पुराने सेवक हैं, मेरे गुरुजन हैं। मैं एक अनुभवहीन नवयुवक हूँ। यह काम सौंपकर आपने मुझ पर उपकार ही किया है, क्योंकि मुझे काँग्रेस में काम करना है। उसके कामकाज को समझने का आपने मुझे अलभ्य अवसर दिया है।"

हमारे बीच अच्छी मित्रता हो गयी। घोषालबाबू के बटन भी 'बैरा' लगाता था। यह देखकर 'बैरे' का काम मैंने ही ले लिया। मुझे वह पसन्द था। बड़ों के प्रति मेरे मन में बहुत आदर था। जब वे मेरी वृत्ति समझ गये, तो अपनी निजी सेवा के सारे काम मुझसे लेने लगे।

पर ऐसी सेवा के प्रति मन में थोड़ी भी अरुचि उत्पन्न न हुई। मुझे जो लाभ हुआ, उसकी तो कीमत आँकी ही नहीं जा सकती।

कुछ ही दिनों में मुझे काँग्रेस की व्यवस्था का ज्ञान हो गया। कई नेताओं से भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते थे। मैं उनकी रीति-नीति देख सका। वहाँ समय की जो बरबादी होती थी, उसे भी मैंने अनुभव किया। अंग्रेज़ी भाषा का प्राबल्य भी देखा। इससे उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। शक्ति के बचाव की कोई गिनती ही नहीं थी। मैंने देखा कि एक आदमी से हो सकने वाले काम में अनेक आदमी लग जाते थे, और यह भी देखा कि कितने ही महत्त्वपूर्ण काम कोई करता ही न था।

मेरा मन इस सारी स्थिति की टीका किया करता था। पर चित्त उदार था, इसलिए वह मान लेता था कि जो हो रहा है, उसमें अधिक सुधार करना संभव न होगा। फलतः मन में किसी के प्रति अरुचि पैदा न होती थी।

सर फीरोजशाह ने दक्षिण अफ़्रीका के बारे में मेरा प्रस्ताव लेने की स्वीकृति तो दी थी, पर उसे काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी समिति में कौन प्रस्तुत करेगा, कब करेगा, यह सोचता हुआ मैं समिति में बैठा रहा। हरएक प्रस्ताव पर लम्बे-लग्बे भाषण होते थे, सब अंग्रेज़ी में। हरएक के साथ प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम जुड़े होते थे। इस नक्कारखाने में मेरी तूती की आवाज़ कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात बीतती जाती थी, त्यों-त्यों मेरा दिल धड़कता जाता था। सब कोई भागने की तैयारी में थे। रात के ग्यारह बज गये थे। मुझमें बोलने की हिम्मत न थी। मैं गोखले से मिल चुका था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुर्सी के पास जाकर मैंने धीरे से कहा :

"मेरे लिए कुछ कीजिएगा।"

सर फीरोजशाह बोले : “कहिये, सब काम निबट गया न?”

गोखले बोल उठे : "दक्षिण अफ़्रीका का प्रस्ताव तो बाकी ही है। मि. गांधी कबसे बैठे राह देख रहे हैं।”

सर फीरोजशाह ने पूछा : “आप उस प्रस्ताव को देख चुके हैं?”

“हाँ ।“

“आपको वह पसन्द आया?”

“काफ़ी अच्छा है।”

“तो गांधी, पढ़ो।”

मैंने काँपते हुए प्रस्ताव पढ़ सुनाया।

गोखले ने उसका समर्थन किया।

सब बोल उठे, “सर्व-सम्मति से पास।”

वाच्छा बोले, “गांधी, तुम पाँच मिनट लेना।”

इस दृश्य से मुझे प्रसन्नता न हुई। किसीने भी प्रस्ताव को समझने का कष्ट नहीं उठाया। सब जल्दी में थे। गोखले ने प्रस्ताव देख लिया था, इसलिए दूसरों को देखने-सुनने की आवश्यकता प्रतीत न हुई।

सवेरा हुआ।

मुझे तो अपने भाषण की फ़िक्र थी। पाँच मिनट में क्या बोलूँगा? मैंने तैयारी तो अच्छी कर ली थी, पर उपयुक्त शब्द सूझते न थे। जैसे तैसे प्रस्ताव पढ़ा गया।

किसी कवि ने अपनी कविता छपाकर सब प्रतिनिधियों में बाँटी थी। उसमें परदेश जाने की और समुद्र-यात्रा की स्तुति थी। वह मैंने पढ़ सुनायी और दक्षिण अफ़्रीका के दुःखों की थोड़ी चर्चा की। इतने में सर मि. वाच्छा दीनशा की घंटी बजी। मुझे विश्वास था कि मैंने अभी पाँच मिनट

पूरे नहीं किये हैं। मुझे पता न था कि यह घंटी मुझे चेताने के लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गयी थी। मैंने बहुतों को आध-आध, पौन-पौन घंटे बोलते देखा था और घंटी नहीं बजी थी। मुझे दुःख तो हुआ। घंटी बजते ही मैं बैठ गया।

प्रस्ताव पास होने के बारे में तो पूछना ही क्या था? उन दिनों दर्शक और प्रतिनिधि का भेद क्वचित् ही किया जाता था। प्रस्तावों का विरोध करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। सब हाथ उठाते ही थे। सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास होते थे। मेरा प्रस्ताव भी इसी तरह पास हुआ। इसलिए मुझे प्रस्ताव का महत्त्व नहीं जान पड़ा। फिर भी काँग्रेस में मेरा प्रस्ताव पास हुआ, यह बात ही मेरे आनन्द के लिए पर्याप्त थी। जिस पर काँग्रेस की मुहर लग गयी उस पर सारे भारत की मुहर है, यह ज्ञान किसके लिए पर्याप्त न होगा?

३७. लार्ड क़र्ज़न का दरबार

काँग्रेस-अधिवेशन समाप्त हुआ, पर मुझे तो दक्षिण अफ़्रीका के काम के लिए कलकत्ते में रहकर चेम्बर ओफ कोमर्स इत्यादि मण्डलों से मिलना था। इसलिए मैं कलकत्ते में एक महीना ठहरा। इस बार मैंने होटल में ठहरने के बदले परिचय प्राप्त करके 'इण्डिया क्लब' में ठहरने की व्यवस्था की। इस क्लब में अग्रगण्य भारतीय उतरा करते थे। इससे मेरे मन में यह लोभ था कि उनसे मेल-जोल बढ़ाकर मैं उनमें दक्षिण अफ़्रीका के काम के लिए दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा।

उन्हीं दिनों लार्ड क़र्ज़न का दरबार हुआ । उसमें जाने वाले कोई राजा-महाराजा इस क्लब में ठहरे हुए थे। क्लब में तो मैं उनको हमेशा सुन्दर बंगाली धोती, कुर्ता और चादर की पोशाक में देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामोंकी-सी पगड़ी और चमकीले बूट पहने थे। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस परिवर्तन का कारण पूछा।

जवाब मिला, "हमारा दुःख हम ही जानते हैं। अपनी सम्पत्ति और अपनी उपाधियों को सुरक्षित रखने के लिए हमें जो अपमान सहने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?"

"पर यह खानसामे-जैसी पगड़ी और ये बूट किसलिए?"

"हम में और खानसामों में आपने क्या फ़र्क देखा? वे हमारे खानसामा हैं, तो हम लार्ड क़र्ज़न के खानसामा हैं। यदि मैं दरबार में अनुपस्थित रहूँ, तो मुझको उसका दण्ड भुगतना पड़े। अपनी साधारण पोशाक पहनकर जाऊँ, तो वह अपराध माना जाएगा। और वहाँ जाकर भी क्या मुझे लार्ड क़र्ज़न से बातें करने का अवसर मिलेगा? कदापि नहीं।"

मुझे इस स्पष्टवक्ता भाई पर दया आई।

ऐसे ही प्रसंग वाला एक और दरबार मुझे याद आ रहा है। जब काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव लार्ड हार्डिंग के हाथों रखी गयी, तब उनका दरबार हुआ था। उसमें राजा-महाराजा तो आये ही थे। भारतभूषण मालवीयजी ने मुझसे भी उसमें उपस्थित रहने का विशेष आग्रह किया था। मैं वहाँ गया था। केवल स्त्रियों को ही शोभा देने वाली राजा-महाराजाओं की पोशाकें देखकर

मुझे दुःख हुआ था। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गले में हीरे-मोती की मालायें, हाथ पर बाजूबन्द और पगड़ी पर हीरे-मोती की झालरें! इन सबके साथ कमर में सोने की मूठवाली तलवार लटकती थी। ये चीज़ें उनके राज्याधिकार की नहीं, बल्कि उनकी गुलामी की निशानियाँ थीं। मैं मानता था कि ऐसे नामर्दी-सूचक आभूषण वे स्वेच्छा से पहनते होंगे। पर मुझे पता चला कि ऐसे सम्मेलनों में अपने सब मूल्यवान आभूषण पहनकर जाना राजाओं के लिए अनिवार्य था। मुझे यह भी मालूम हुआ कि कइयों को ऐसे आभूषण पहनने से घृणा थी। धन, सत्ता और मान मनुष्य से कितने पाप और अनर्थ कराते हैं!

३८. बम्बई में

गोखले की बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बई में बस जाऊँ, वहाँ बारिस्टर का धन्धा करूँ और उनके साथ सार्वजनिक सेवा में हाथ बँटाऊँ। उस समय सार्वजनिक सेवा का मतलब था, काँग्रेस की सेवा।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर काम मिलने के बारे में मुझे आत्म-विश्वास न था। पिछले अनुभवों की याद भूली नहीं थी।

इस कारण पहले तो मैं राजकोट में ही रहा। वहाँ काम शुरू किया।

एक दिन केवलराम मेरे पास आये और बोले : "गांधी, तुमको यहाँ नहीं रहने दिया जाएगा। तुम्हें तो बम्बई ही जाना होगा।"

"तुम सार्वजनिक काम के लिए सिरजे गये हो, तुम्हें हम काठियावाड़ में दफन न होने देंगे। कहो, कब रवाना होते हो?"

"नाताल से मेरे कुछ पैसे आने बाकी हैं, उनके आने पर चला जाऊँगा।"

पैसे एक-दो हफ़्तों में आ गये और मैं बम्बई पहुँचा।

मैंने देखा कि मेरा धंधा आर्थिक दृष्टि से मेरी अपेक्षा से अधिक अच्छा चल निकला। दक्षिण अफ़्रीका के मुवक्किल मुझे कुछ-न-कुछ काम देते रहते थे। मुझे लगा कि उससे मेरा खर्च सरलता-पूर्वक चल जाएगा।

मैंने सुस्थिर होने का निश्चय किया और थोड़ी स्थिरता अनुभव की कि अचानक दक्षिण अफ़्रीका का तार मिला : "चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, आपको आना चाहिए।" मुझे अपने वचन का स्मरण तो था ही। मैंने तार दिया : "मेरा खर्च भेजिये, मैं आने को तैयार हूँ।" उन्होंने तुरन्त रुपये भेज दिये और मैं दफ़्तर समेट कर रवाना हो गया।

मैंने सोचा था कि मुझे एक वर्ष तो सहज ही लग जाएँगा। इसलिए बंगला रहने दिया और बाल-बच्चों को वहीं रखना उचित समझा।

उस समय मैं मानता था कि जो नौजवान देश में कोई कमाई न करते हों और साहसी हों, उनके लिए परदेश चला जाना अच्छा है। इसलिए मैं अपने साथ चार-पाँच नौजवानों को लेता गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थे। ।

भाग-८ : दक्षिण अफ़्रीका में

३९. पुनः दक्षिण अफ़्रीका में

यह नहीं कहा जा सकता कि मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुँचा। मेरे लिए वहाँ काम तैयार ही था। मि. चेम्बरलेन के पास डेप्युटेशन के जाने की तारीख निश्चित हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ा जाने वाला प्रार्थना-पत्र तैयार करना था और डेप्युटेशन के साथ जाना था।

मि. चेम्बरलेन दक्षिण अफ़्रीका से साढ़े तीन करोड़ पौण्ड लेने आये थे तथा अंग्रेज़ों का और हो सके तो बोअरों का मन जीतने आये थे। इसलिए भारतीय प्रतिनिधियों को नीचे लिखा ठंडा जवाब मिला :

"आप तो जानते हैं कि उत्तरदायी उपनिवेशों पर साम्राज्य-सरकार का अंकुश नाममात्र का ही है। आपकी शिकायतें तो सच्ची जान पड़ती हैं। मुझसे जो हो सकेगा, मैं करूँगा। पर आपको जिस तरह भी बने, यहाँ के गोरों को रिझाकर रहना है।"

जवाब सुनकर प्रतिनिधि ठंडे हो गये। मैं निशाश हो गया। 'जब जागे तभी सबेरा' मानकर फिर से श्रीगणेश करना होगा, यह बात मेरे ध्यान में आ गयी और साथियों को मैंने समझा दी।

मि. चेम्बरलेन की तूफानी दौरा करना था। वे ट्रान्सवाल के लिए रवाना हुए। मुझे वहाँ के भारतीयों का केस तैयार करके उनके सामने पेश करना था। प्रिटोरिया किस तरह पहुँचा जाएँ? वहाँ मैं समय पर पहुँच सकूँ, इसके लिए अनुमति प्राप्त करने का काम हमारे लोगों से हो सकने जैसा न था।

युद्ध के बाद ट्रान्सवाल उजाड़ जैसा हो गया था। वहाँ न खाने को अन्न था, न पहनने-ओढ़ने को कपड़े मिलते थे। खाली और बन्द पड़ी हुई दुकानों को माल से भरना और खुलवाना था। जैसे-जैसे माल इकट्ठा होता जाएँ, वैसे-वैसे ही घरबार छोड़कर भागे हुए लोगों को वापस आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रान्सवालवासी को परवाना लेना पडता था। गोरों को तो परवाना माँगते ही मिल जाता था। मुसीबत हिन्दुस्तानियों की थी।

हब्शियों से सम्बन्ध रखने वाला एक अलग विभाग पहले से ही था। ऐसी दशा में एशियावासियों के लिए भी एक विभाग क्यों न हो? हिन्दुस्तानियों को इस विभाग में अर्जी देनी पडती थी।

मुझसे कहा गया था कि बिना वसीले के परवाना मिलता ही नहीं और कई बार तो वसीले या जरिये के होते हुए भी प्रति व्यक्ति सौ-सौ पौण्ड तक खर्च हो जाते हैं। इसमें मेरा ठिकाना कहाँ लगता?

मैं अपने पुराने मित्र डरबन के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के पास पहुँचा और उनसे कहा, "आप मेरा परिचय परवाना देने वाले अधिकारी से करा दीजिए और मुझे परवाना दिला दीजिए। आप यह तो जानते हैं कि मैं ट्रान्सवाल में रहा हूँ।" वे तुरन्त सिर पर टोप रखकर मेरे साथ आये और मुझे परवाना दिला दिया। सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर का आभार मानकर मैं प्रिटोरिया के लिए रवाना हो गया।

मैं प्रिटोरिया पहुँचा। प्रार्थना-पत्र तैयार किया। डरबन में प्रतिनिधियों के नाम किसीसे पूछे गये हों, सो मुझे याद नहीं। लेकिन यहाँ नया विभाग काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियों के नाम पहले से पूछ लिए गये थे। हमने नाम दिये मजकूर अधिकारी के हस्ताक्षर वाला पत्र आया; उसमें यह लिखा गया था कि, मि. चेम्बरलेन डरबन में गांधी से मिले है, अतः अब उनका नाम प्रतिनिधियों में से निकाल देने की ज़रूरत है।

साथियों को यह पत्र असह्य प्रतीत हुआ। "आपके कहने से समाज ने लड़ाई में हिस्सा लिया, पर परिणाम तो यही निकला न?" इस तरह ताना मारने वाले भी समाज में निकल आये। पर मुझ पर इन तानों का कोई असर नहीं हुआ। मैंने कहा, "मुझे इस सलाह का पछतावा नहीं है । मैं अब भी यह मानता हूँ कि हमने लड़ाई में भाग लेकर ठीक ही किया है। वैसा करके हमने अपने कर्तव्य का पालन किया है। हमें उसका फल चाहे देखने को न मिले, पर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि शुभ कार्य का फल शुभ ही होता है। बीती बातों का विचार करने की अपेक्षा अब हमारे लिए अपने वर्तमान कर्तव्य का विचार करना अधिक अच्छा होगा। अतएव हम उसके बारे में सोचें।"

दूसरों ने भी इस बात का समर्थन किया।

मैंने कहा: "सच तो यह है कि जिस काम के लिए मुझे बुलाया गया था, वह अब पूरा हुआ माना जाएँगा। पर मैं मानता हूँ कि आपके मुझे छुट्टी दे देने पर भी अपने बसभर मुझे ट्रान्सवाल से हटना नहीं चाहिए। मेरा काम अब नाताल से नहीं, बल्कि यहाँ से चलना चाहिए। एक साल के अन्दर वापस जाने का विचार मुझे छोड़ देना चाहिए और यहाँ की वकालात की सनद हासिल करनी चाहिए। इस नये विभाग से निबट लेने की हिम्मत मुझमें है। यदि हमने मुकाबला न किया तो समाज लुट जाएगा और शायद यहाँ से उसके पैर भी उखड़ जाएँगे।

उस प्रकार मैंने चर्चा चलायी। प्रिटोरिया और जोहानिसबर्ग में रहने वाले भारतीय नेताओं से विचार विमर्श करके अन्त में जोहानिसबर्ग में दफ़्तर रखने का निश्चय हुआ।

४०. गीता का अभ्यास

थियोसोफिस्ट मित्र मुझे अपने मण्डल में सम्मिलित करने की इच्छा अवश्य रखते थे। पर उनका हेतु हिन्दू के नाते मुझसे कुछ प्राप्त करना था। थियोसोफी की पुस्तकों में हिन्दू धर्म की छाया और उसका प्रभाव तो काफ़ी है ही। अतएव इन भाइयों ने मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूँगा। 'जिज्ञासु-मण्डल' के नाम से एक छोटा-सा मण्डल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा। गीताजी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब उसकी गहराई में उतरने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मेर पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी सहायता से मैंने मूल संस्कृत समझ लेने का प्रयत्न किया और नित्य एक-दो श्लोक कण्ठ करने का निश्चय किया।

प्रात: दातुन और स्नान के समय का उपयोग गीता के श्लोक कण्ठ करने में किया। दातुन में पन्द्रह और स्नान में बीस मिनट लगते थे। खड़े-खड़े करता था। सामने की दीवार पर गीता के श्लोक लिखकर चिपका देता था और आवश्यकतानुसार उन्हें देखता तथा घोखता जाता था। ये घोखे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते थे। इस बीच पिछले कण्ठ किये हुए श्लोकों को भी मैं एक बार दोहरा जाता था। इस प्रकार तेरह अध्याय तक कण्ठ करने की बात मुझे याद है।

इस गीतापाठ का प्रभाव मेरे सहाध्यायियों पर क्या पड़ा उसे वे जानें, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गयी। वह मेरे लिए धार्मिक कोश का काम देने लगी। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दों ने मुझे पकड़ लिया। समभाव का विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाए? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अंग्रेज़ी क़ानून ने मेरी मदद की। 'ट्रस्टी' शब्द का अर्थ विशेष रूप से समझ में आया। ट्रस्टी के पास करोड़ों रुपयों के रहते हुए भी उनमें की एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षु को ऐसा ही वरताव करना चाहिए, यह बात मैंने गीताजी से समझी। मुझे यह दीपक की तरह स्पष्ट दिखायी दिया कि अपरिग्रही बनने में, समभावी होने में हेतु का, हृदय का परिवर्तन आवश्यक है। मैंने रेवाशंकरभाई को इन आशय का पत्र लिख भेजा कि बीमे की पोलिसी बन्द कर दें। कुछ रकम वापस मिले तो ले लें, न मिले तो भरे हुए पैसों को

गया समझ लें। बच्चों की और स्त्री की रक्षा उन्हें और हमें पैदा करने वाला ईश्वर करेगा। पितृतुल्य भाई को लिखा : "आज तक तो मेरे पास जो बचा वह मैंने आपको अर्पण किया। अब मेरी आशा आप छोड़ दीजिए। अब जो बचेगा सो यहीं हिन्दुस्तानी समाज के हित में खर्च होगा।"

४१. इण्डियन ओपीनियन

इसी अरसे में श्री मदनजीत ने *इण्डियन ओपीनियन* अखबार निकालने का विचार किया। उन्होंने मेरी सलाह और सहायता माँगी। छापाखाना तो वे चला ही रहे थे। अखबार निकालने के विचार से मैं सहमत हुआ। सन १९०४ में इस अखबार का जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर इसके संपादक बने। पर संपादन का सच्चा बोझ तो मुझ पर ही पड़ा। मेरे भाग्य में प्रायः हमेशा दूर से ही अखबार की व्यवस्था संभालने का योग रहा है।

मनसुखलाल नाजर संपादक का काम न कर सकें, ऐसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने देश में कई अखबारों के लिए लेख लिखे थे, पर दक्षिण अफ़्रीका के अटपटे प्रश्नों पर मेरे रहते उन्होंने स्वतंत्र लेख लिखने की हिम्मत नहीं की। उन्हें मेरी विवेक-शक्ति पर अत्यधिक विश्वास था। अतएव जिन-जिन विषयों पर कुछ लिखना ज़रूरी होता, उन पर लिखकर भेजने का बोझ वे मुझ पर डाल देते थे।

यह अखबार साप्ताहिक था, जैसा कि आज भी है।

मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि इस अखबार में मुझे कुछ अपने पैसे लगाने पड़ेंगे। लेकिन कुछ ही समय में मैंने देखा कि अगर मैं पैसे न दूँ, तो अखबार चल ही नहीं सकता। मैं अखबार का संपादक नहीं था। फिर भी हिन्दुस्तानी और गोरे दोनों यह जानने लग गये थे कि उसके लेखों के लिए मैं ही जिम्मेदार था। अखबार न निकलता तो भी कोई हानि न होती। पर निकालने के बाद उसके बन्द होने से हिन्दुस्तानियों की बदनामी होगी और समाज को हानि पहुँचेगी, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ।

मैं उसमें पैसे उँड़ेलता गया और कहा जा सकता है कि आख़िर ऐसा भी समय आया, जब मेरी पूरी बचत उसी पर खर्च हो जाती थी। मुझे ऐसे समय की याद है, जब मुझे हर महीने ७५ पौण्ड भेजने पड़ते थे।

किन्तु इतने वर्षों के बाद मुझे लगता है कि इस अखबार ने हिन्दुस्तानी समाज की अच्छी सेवा की है। इससे धन कमाने का विचार तो शुरू से ही किसी का नहीं था।

जब तक वह मेरे अधीन था, उसमें किये गये परिवर्तन मेरे जीवन में हुए परिवर्तनों के द्योतक थे। जिस तरह आज *यंग इंडिया* और *नवजीवन* मेरे जीवन के कुछ अंशों के निचोड़-रूप हैं, उसी तरह *इण्डियन ओपीनियन* था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा उँड़ेलता था और जिसे मैं सत्याग्रह के रूप में पहचानता था, उसे समझाने का प्रयत्न करता था। ज़ेल के समयों को छोड़कर दस वर्षों के अर्थात् सन १९१४ तक के *इण्डियन ओपीनियन* के शायद ही कोई अंक ऐसे होंगे, जिनमें मैंने कुछ लिखा न हो।

४२. एक पुस्तक का चमत्कारी प्रभाव

मैं भोजन के लिए एक निरामिष भोजनगृह में जाता था। वहाँ मुझे आल्बर्ट वेस्ट की पहचान हुई। हमलोग प्रतिदिन शाम को इस गृह में मिलते और भोजन करके घुमने के लिए चले जाते थे। वेस्ट एक छोटे छापखाने में हिस्सेदार थे। उन्हों ने सहायता करने का वादा किया। और मैंने *इन्डियन ओपीनियन* प्रेस का कारोबार हाथ में लेने के लिए अनुरोध किया। वेस्ट को छापखाने की आर्थिक परिस्थिति के संबंध में प्राथमिक रिपोर्ट मुझे डराने वाला था। अतः मैं नाताल जाने के लिए रवाना हुआ। पोलाक निरामिषाहारी भोजनगृह में मिले थे और मित्र बन गये थे।

वे मुझे छोडने स्टेशन तक आये और यह कहकर कि "यह पुस्तक रास्ते में पढने योग्य है; आप इसे पढ जाइये, आपको पसंद आएगी।"

उन्होंने रस्किन की *अन्टु धिस लास्ट* पुस्तक मेरे हाथ में रख दी।

इस पुस्तक को हाथ में लेने के बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिसबर्ग से नाताल का रास्ता लगभग चौबीस घंटों का था। ट्रेन शाम को डरबन पहुँचती थी। पहुँचने के बाद मुझे सारी रात नींद न आयी। मैंने पुस्तक में सूचित विचारों को अमल में लाने का इरादा किया।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज़ मेरे अन्दर गहराई में छिपी पड़ी थी, रस्किन के ग्रंथरत्न में मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे उसमें दिये गये विचारों पर अमल करवाया। जो मनुष्य हम में सोयी हुई उत्तम भावनाओं को जाग्रत करने की शक्ति रखता है, वह कवि है। सब कवियों का सब लोगों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सबके अन्दर सारी सद्भावनायें समान मात्रा में नहीं होतीं।

मैं 'सर्वोदय' के सिद्धान्तों को इस प्रकार समझा हूँ :

१. सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।

२. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एकसी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।

३. सादा मेहनत-मज़दूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज़ मैं जानता था। दूसरी को मैं धुँधले रूप में देखता था। तीसरी का मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज़ में दूसरी दोनों चीज़ें समायी हुई हैं। सवेरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तों पर अमल करने के प्रयत्न में लगा।

४३. फ़ीनिक्स की स्थापना

सवेरे सबसे पहले तो मैंने वेस्ट से बात की। मुझ पर 'सर्वोदय' का जो प्रभाव पड़ा था, वह मैंने उन्हें सुनाया और सुझाया कि *इण्डियन ओपीनियन* को एक खेत पर ले जाना चाहिए। वहाँ सब अपने खान-पान के लिए आवश्यक खर्च समान रूप से लें। सब अपने-अपने हिस्से की खेती करें और बाकी के समय में *इण्डियन ओपीनियन* का काम करें। वेस्ट ने इस सुझाव को स्वीकार किया। हरएक के भोजन आदि का खर्च कम से कम तीन पौण्ड हो ऐसा हिसाब बैठाया। इसमें गोरे-काले का भेद नहीं रखा गया था।

तुरन्त ही मैंने समाचारपत्रों में एक विज्ञापन छपवाया कि डरबन के पास किसी भी स्टेशन से लगी हुई ज़मीन के एक टुकड़े की ज़रूरत है। जवाब में फ़ीनिक्स की ज़मीन का संदेशा मिला। सात दिन के अंदर २० एकड़ ज़मीन ली। उसमें एक छोटा-सा पानी का नाला था। नारंगी और आम के कुछ पेड़ थे। पास ही ८० एकड़ का दूसरा एक टुकड़ा था। उसमें विशेष रूप से फलों वाले पेड़ और एक झोंपड़ा था। थोड़े दिनों बाद उसे भी खरीद लिया। दोनों के मिलाकर १,००० पौण्ड दिये।

कुछ हिन्दुस्तानी बढ़ई और सिलावट, जो मेरे साथ (बोअर) लड़ाई में सम्मिलित हुए थे, उनकी मदद से कारखाना बनाना शुरू किया। एक महीने में मकान तैयार हो गया। वह ७५ फुट लंबा और ५० फुट चौड़ा था। वेस्ट आदि शरीर को संकट में डालकर राज और बढ़ई के साथ रहने लगे।

फ़ीनिक्स में घास खूब थी। बस्ती बिलकुल न थी। इससे साँपों का खतरा था। आरंभ में तो तम्बू गाड़कर सब उन्हीं में रहे थे।

एक हफ़्ते के अन्दर अधिकांश सामान बैलगाड़ियों की मदद से फ़ीनिक्स लाया गया। डरबन और फ़ीनिक्स के बीच तेरह मील का फासला था। फ़ीनिक्स स्टेशन से ढाई मील दूर था।

मगनलाल गांधी अपना पेशा समेटकर मेरे साथ आये थे तबसे वे रहे ही है; अपने बुद्धिशक्ति से, त्यागशक्ति से तथा अनन्य भक्ति भाव से मेरे आंतरिक प्रयोगों के मेरे असली साथियों में आज प्रधानपद पर हैं।

इस प्रकार सन १९०४ में फ़ीनिक्स की स्थापना हुई अनेक विडम्बनाओं के बीच भी फ़ीनिक्स संस्था तथा *इन्डियन ओपीनियन* दोनों अब तक टिके हुए हैं।

हम सब अपनी मेहनत से अपना निर्वाह करेंगे, इस ख़याल से मुद्रणालय के आसपास प्रत्येक निवासी के लिए ज़मीन के तीन-तीन एकड़ के टुकड़े कर लिए गये थे। इनमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी मापा गया था। इन सब टुकड़ों पर हम में से हरएक की इच्छा के विरुद्ध हमने टीन की चद्दरों के घर बनाये। इच्छा तो किसान को शोभा देने वाले घासफूस और मिट्टी के अथवा ईंट के घर बाँधने की थी, पर वह पूरी न हो सकी। उसमें पैसा अधिक खर्च होता था और समय अधिक लगता था। सब जल्दी से घरबार वाले बनने और काम में जुट जाने के लिए उतावले हो गये थे।

अभी यह काम व्यवस्थित नहीं हो पाया था, मकान भी तैयार न हुए थे, इतने में अपने इस नवरचित परिवार को छोड़कर मैं जोहानिसबर्ग भाग गया। मेरी स्थिति ऐसी न थी कि मैं वहाँ के काम को लम्बे समय तक छोड़ सकूँ।

जोहानिसबर्ग पहुँचकर मैंने पोलाक से इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की बात कही। अपनी दी हुई पुस्तक का यह परिणाम देखकर उनके आनन्द का पार न रहा। उन्होंने उमंग के साथ पूछा, “तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह हाथ नहीं बँटा सकता?”

“आप अवश्य हाथ बँटा सकते हैं।”

पोलाक ने 'क्रिटिक' से मुक्ति पाने के लिए अपने मालिक को एक महीने की नोटिस दी और अवधि समाप्त होने पर वे फ़ीनिक्स पहुँच गये। वहाँ अपने मिलनसार स्वभाव से उन्होंने सबके दिल जीत लिए और घर के ही एक आदमी की तरह रहने लगे।

पर मैं ही उन्हें लम्बे समय तक वहाँ रख नहीं सका। मेरे लिए अकेले हाथों समूचे दफ़्तर का बोझ उठाना संभव न था। अतएव मैंने पोलाक को आफिस में रहने और वकील बनने की सलाह दी।

पोलाक ने मुझे लिखा : "मुझे तो यह जीवन ही अच्छा लगता है। मैं यहाँ सुखी हूँ! यहाँ हम इस संस्था का विकास कर सकेंगे। किन्तु यदि आप यह मानते हों कि मेरे वहाँ पहुँचने से हमारे आदर्श शीघ्र सफल होंगे, तो मैं आने को तैयार हूँ।"

मैंने उनके इस पत्र का स्वागत किया। पोलाक फ़ीनिक्स छोड़कर जोहानिसबर्ग आये और मेरे दफ़्तर में वकील के मुंशी की तरह काम करने लगे।

४४. घरों में परिवर्तन तथा बालशिक्षा

अब जल्दी ही हिन्दुस्तान जाने की अथवा वहाँ जाकर स्थिर होने की आशा मैंने छोड़ दी थी। मैं तो पत्नी को एक साल का आश्वासन देकर वापस दक्षिण अफ़्रीका आया था। साल तो बीत गया, पर मेरे वापस लौटने की संभावना दूर चली गई। अतएव मैंने बच्चों को बुला लेने का निश्चय किया।

डरबन में मैंने जो घर बसाया था, उसमें परिवर्तन तो किये ही थे। खर्च अधिक रखा था, फिर भी झुकाव सादगी की ओर ही था। किन्तु जोहानिसबर्ग में 'सर्वोदय' के विचारों ने अधिक परिवर्तन करवाये।

बारिस्टर के घर में जितनी सादगी रखी जा सकती थी, उतनी तो रखनी शुरू कर ही दी। फिर भी कुछ साज-सामान के बिना काम चलाना मुश्किल था। सच्ची सादगी तो मन की बढ़ी। हरएक काम अपने हाथों करने का शौक बढ़ा और बालकों को भी उसमें शरीक करके कुशल बनाना शुरू किया।

बाज़ार की रोटी खरीद ने के बदले कूने की सुझाई हुई बिना खमीर की रोटी हाथ से बनानी शुरू की। इसमें मिल का आटा काम नहीं देता था। हाथ से पिसे आटे का उपयोग करने में सादगी, आरोग्य और पैसा तीनों की अधिक रक्षा होती है। अतएव सात पौण्ड खर्च करके हाथ से चलाने की एक चक्की खरीद ली। उसका पाट वजनदार था। दो आदमी उसे सरलता से चला सकते थे; इस चक्की को चलाने में पोलाक, मैं और बालक मुख्य भाग लेते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जाती थी, यद्यपि उस समय वह रसोई बनाने में लगी रहती थी। मिसेज पोलाक के आने पर वे भी इसमें सम्मिलित हो गयीं। बालकों के लिए यह कसरत बहुत अच्छी सिद्ध हुई। उनसे मैंने चक्की चलाने का या दूसरा कोई काम कभी ज़बरदस्ती नहीं करवाया। वे सहज ही खेल समझकर चक्की चलाने आते थे। थकने पर छोड़ देने की उन्हें स्वतंत्रता थी।

घर साफ़ रखने के लिए एक नौकर था। वह घर के आदमी की तरह रहता था और उसके काम में बालक पूरा हाथ बँटाते थे। पाखाना साफ़ करने के लिए म्युनिसिपैलिटी का नौकर आता था, पर पाखाने के कमरे को साफ़ करने और बैठक आदि धोने का काम नौकर को नहीं सौंपा

जाता था। उससे वैसी आशा भी नहीं रखी जाती थी। यह काम हम स्वयं करते थे और इससे भी बालकों को तालीम मिली।

४५. 'जुलू-विद्रोह'

जोहानिसबर्ग में मैं कुछ स्थिर-सा होने लगा था कि इसी बीच एक अनसोची घटना घटी। अखबारों में यह खबर पढ़ने को मिली कि नाताल में जुलू 'विद्रोह' हुआ है। जुलू लोगों से मेरी कोई दुश्मनी न थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानी का नुक़सान नहीं किया था। 'विद्रोह' शब्द के औचित्य के विषय में भी मुझे शंका थी। किन्तु उन दिनों मैं अंग्रेज़ी सल्तनत को संसार का कल्याण करने वाली सल्तनत मानता था। मेरी वफ़ादारी हार्दिक थी। मैं उस सल्तनत का क्षय नहीं चाहता था। अतएव बल-प्रयोग-सम्बन्धी नीति-अनीति का विचार मुझे इस कार्य को करने से रोक नहीं सकता था। नाताल पर संकट आने पर उसके पास रक्षा के लिए स्वयंसवेकों की सेना थी और संकट के समय उसमें काम के लायक सैनिक भरती भी हो जाते थे। मैंने पढ़ा कि स्वयंसेवकों की सेना इस विद्रोह को दबाने के लिए रवाना हो चुकी है।

मैं अपने को नातालवासी मानता था और नाताल के साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। अतएव मैंने गवर्नर को पत्र लिखा कि यदि आवश्यकता हो तो घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने वाले हिन्दुस्तानियों की एक टुकड़ी लेकर मैं सेवा के लिए जाने को तैयार हूँ। तुरन्त ही गवर्नर का स्वीकृति-सूचक उत्तर मिला । मैंने अनुकूल उत्तर की अथवा इतनी जल्दी उत्तर पाने की आशा नहीं रखी थी। फिर भी उक्त पत्र लिखने के पहले मैंने अपना प्रबन्ध तो कर ही लिया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो जाय, तो जोहानिसबर्ग का घर उठा देंगे, मि. पोलाक अलग घर लेकर रहेंगे और कस्तूरबाई फ़ीनिक्स जाकर रहेगी। इस योजना को कस्तूरबाई की पूर्ण सम्मति प्राप्त हुई।

डरबन पहुँचने पर मैंने आदमियों की माँग की।

स्वाभिमान की रक्षा के लिए और अधिक सुविधा के साथ काम कर सकने के लिए तथा वैसी प्रथा होने के कारण चिकित्सा-विभाग के मुख्य पदाधिकारी ने मुझे 'सार्जन्ट मेजर' का मुद्दती पद दिया और मेरी पसन्द के अन्य तीन साथियों को 'सार्जन्ट' का और एक को 'कोपेरिल'

का पद दिया। वरदी भी सरकार की ओर से ही मिली। मैं यह कह सकता हूँ कि इस टुकड़ी ने छह सप्ताह तक सतत सेवा की।

'विद्रोह' के स्थान पर पहुँचकर मैंने देखा कि वहाँ विद्रोह-जैसी कोई चीज़ नहीं थी। कोई विरोध करता हुआ भी नजर नहीं आता था। विद्रोह मानने का कारण यह था कि एक जुलू सरदार ने जुलू लोगों पर लगाया गया नया कर न देने की उन्हें सलाह दी थी और कर की वसूली के लिए गये हुए एक सार्जन्ट को उसने कत्ल कर डाला था। सो जो भी हो, मेरा हृदय तो जुलू लोगों की तरफ था और केन्द्र पर पहुँचने के बाद जब हमारे हिस्से मुख्यतः जुलू घायलों की शुश्रूषा करने का काम आया, तो मैं बहुत खुश हुआ। वहाँ के डोक्टर अधिकारी ने हमारा स्वागत किया। उसने कहा, "गोरों में से कोई इन घायलों की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए तैयार नहीं होता। मैं अकेला किस-किस की सेवा करूँ? इनके घाव सड़ रहे हैं। अब आप आये हैं, इसे मैं इन निर्दोष लोगों पर ईश्वर की कृपा ही समझता हूँ।" यों कहकर उसने मुझे पट्टियाँ, जंतु-नाशक पानी आदि सामान दिया और उन बीमारों के पास ले गया। बीमार हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही जालियों में से झाँक-झाँककर हमें घाव साफ़ करने से रोकने का प्रयत्न करते, हमारे न मानने पर खीझते और जुलूओं के बारे में जिन गन्दे शब्दों का उपयोग करते उनसे तो कान के कीड़े झड़ जाते थे।

धीरे-धीरे गोरे सिपाहियों के साथ भी मेरा परिचय हो गया और उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया।

कोई यह न माने कि जिन बीमारों की सेवा-शुश्रूषा का काम हमें सौंपा गया था, वे किसी लड़ाई में घायल हुए थे। उनमें से एक हिस्सा उन कैदियों का था, जो शक में पकड़े गये थे। जनरल ने उन्हें कोड़ों की सज़ा दी थी। इन कोड़ों की मार से जो घाव पैदा हुए थे, वे सार-संभाल के अभाव में पक गये थे। दूसरा हिस्सा उन जुलूओं का था; जी मित्र माने जाते थे। इन मित्रों को सिपाहियों ने घायल किया था, यद्यपि उन्होंने मित्रतासूचक चिह्न धारण कर रखे थे।

हम लोगों को अलग-अलग स्थान पर तेज़ी से पहुँचती हुई सिपाहियाँ की डुकड़ी के साथ जोड़ दिये जाते थे।

जहाँ से संकट के समाचार आते वहीं दौड़ जाती थी। उसमें बहुत से तो घुड़सवार ही थे। केन्द्रस्थान से हमारी छावनी उठती कि हमें उसके पीछे-पीछे अपनी डोलियाँ कन्धे पर उठाकर चलना पड़ता था। दो-तीन मौकौं पर तो एक ही दिन में चालीस मील की मंज़िल तय करनी पड़ी। यहाँ भी हमें तो केवल प्रभु का ही काम मिला। जो जुलू मित्र भूल से घायल हुए थे उन्हें डोलियों मे उठाकर छावनी तक पहुँचाना था और वहाँ उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी थी।

'जुलू-विद्रोह' में मुझे बहुत से अनुभव हुए और बहुत-कुछ सोचने को मिला। बोअर-युद्ध में मुझे लड़ाई की भयंकरता उतनी प्रतीत नहीं हुई थी जितनी यहाँ हुई। यहाँ लड़ाई नहीं, बल्कि मनुष्य का शिकार हो रहा था। यह केवल मेरा ही नहीं, बल्कि उन कई अंग्रेज़ों का भी अनुभव था, जिनके साथ मेरी चर्चा होती रहती थी। सबेरे-सबेरे सेना गाँव में जाकर मानो पटाखे छोड़ती हो, इस प्रकार उसकी बन्दूकों की आवाज़ दूर रहने वाले हम लोगों के कानों पर पड़ती थी। इन आवाज़ों को सुनना और इस वातावरण में रहना मुझे बहुत मुश्किल मालूम पड़ा। लेकिन मैं सब-कुछ कड़वे घूँट की तरह पी गया और मेरे हिस्से जो काम आया सो तो केवल जुलू लोगों की सेवा का ही आया। मैं ये समझ गया कि अगर हम स्वयंसेवक-दल में सम्मिलित न हुए होते, तो दूसरा कोई यह सेवा न करता। इस विचार से मैंने अपनी अन्तरात्मा को शान्त किया।

४६. ब्रह्मचर्य

मीलों तक बिना आबादी वाले भव्य प्रदेश में हम लोग किसी घायल को लेकर या ऐसे ही चले जाते थे तब मैं सोच में डूब जाता था।

यहाँ ब्रह्मचर्य के बारे में मेरे विचार परिपक्व हुए। मैंने अपने साथियों से भी इसकी थोड़ी चर्चा की। मुझे अभी इस बात का साक्षात्कार तो नहीं हुआ था कि ईश्वर-दर्शन के लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है। किन्तु मैं यह स्पष्ट देख सका था कि सेवा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। मुझे लगा कि इस प्रकार की सेवा को मेरे हिस्से अधिकाधिक आती ही रहेगी और यदि मैं भोग-विलास में, संतानोत्पत्ति में और संतति के पालन-पोषण में लगा रहा, तो मुझसे सम्पूर्ण सेवा नहीं हो सकेगी; मैं दो घोड़ों पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी सगर्भा हो तो मैं निश्चिंत भाव से इस सेवा में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना परिवार की वृद्धि करते रहना समाज के अभ्युदय के लिए किये जाने वाले मनुष्य के प्रयत्न का विरोध करने वाली वस्तु बन जाती है।

मैं मन-ही-मन इस विचारों को पक्का कर रहा था और शरीर को कस रहा था कि इतने में कोई यह अफ़वाह लाया कि विद्रोह शान्त होने जा रहा है और अब हमें छुट्टी मिल जाएगी। दूसरे दिन हमें घर जाने की इजाज़त मिली और बाद में कुछ ही दिनों के अंदर सब अपने-अपने घर पहुँच गये। इसके कुछ ही दिनों बाद गवर्नर ने उक्त सेवा के लिए मेरे नाम आभार-प्रदर्शन का एक विशेष पत्र भेजा।

फ़ीनिक्स पहुँचकर मैंने व्रत ले लिया कि अबसे आगे जीवन-भर ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। उस समय मैं इस व्रत के महत्त्व और इसकी कठिनाइयों को पूरी तरह समझ न सका था। इसकी कठिनाइयों का अनुभव तो मैं आज भी करता रहता हूँ। इसके महत्त्व को मैं दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-रहित जीवन मुझे शुष्क और पशुओं-जैसा प्रतीत होता है। पशु स्वभाव से निरंकुश है। मनुष्य का मनुष्यत्व स्वेच्छा से अंकुश में रहने में है। धर्मग्रंथों में

पायी जानेवाली ब्रह्मचर्य की प्रशंसा में पहले मुझे अतिशयोक्ति मालूम होती थी; उसके बदले अब दिन-दिन यह अधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह उचित है और अनुभव-पूर्वक लिखी गयी है।

जिस ब्रह्मचर्य के ऐसे परिणाम आ सकते हैं, वह सरल नहीं हो सकता, वह केवल शारीरिक भी नहीं हो सकता। शारीरिक अंकुश से ब्रह्मचर्य का आरंभ होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्य में विचार की मलिनता भी न होनी चाहिए। संपूर्ण ब्रह्मचारी को तो स्वप्न में भी विकारी विचार नहीं आते। और, जब तक विकार-युक्त स्वप्न आते रहते हैं, तब तक यह समझना चाहिए कि ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्य का पालन मै इच्छा या अनिच्छा से सन १९०० से करता जा रहा था, व्रत के रूप में उसका आरंभ १९०६ के मध्य से हुआ।

४७. पत्नी की दृढ़ता

कस्तूरबाई पर रोग के तीन घातक हमले हुए और तीनों में वह केवल घरेलू उपचारों से बच गई। उनमें पहली घटना उस समय घटी जब सत्याग्रह का युद्ध चल रहा था। उसे बार-बार रक्तस्राव हुआ करता था। एक डोक्टर मित्र ने शस्त्रक्रिया करा लेने की सलाह दी थी। उसका शरीर बहुत ही क्षीण हो गया था। डोक्टर ने बिना क्लोरोफार्म के शस्त्रक्रिया की। शस्त्रक्रिया के समय पीड़ा बहुत हो रही थी, पर जिस धीरज से कस्तूरबाई ने उसे सहन किया उससे मैं आश्चर्यचकित हो गया। शस्त्रक्रिया निर्विघ्न पूरी हो गयी। डोक्टर ने और उनकी पत्नी ने कस्तूरबाई की अच्छी सार-संभाल की।

यह घटना डरबन में हुई थी। दो या तीन दिन के बाद डोक्टर ने मुझे निश्चिन्त होकर जोहानिसबर्ग जाने की अनुमति दे दी। कुछ ही दिन बाद खबर मिली कि कस्तूरबाई का शरीर बिलकुल सुधर नहीं रहा है और वह बिछौना छोड़कर उठ-बैठ भी नहीं सकती। एक बार बेहोश भी हो चुकी थी। डोक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना औषधि या अन्न के रूप में कस्तूरबाई को शराब अथवा माँस नहीं दिया जा सकता। डोक्टर ने मुझे जोहानिसबर्ग में टेलीफोन किया : “में आपकी पत्नी को 'बीफ-टी' देने की ज़रूरत समझता हूँ। मुझे इजाज़त मिलनी चाहिए।”

मैंने उत्तर दिया, “मैं यह इजाज़त नहीं दे सकता। किन्तु कस्तूरबाई स्वतंत्र है। उससे पूछने-जैसी स्थिति हो तो पूछिये और वह लेना चाहे तो ज़रूर दीजिए ।”

“ऐसे मामलों में मैं बीमार से कुछ पूछना पसंद नहीं करता। स्वयं आपका यहाँ आना ज़रूरी है। यदि आप मैं जो चाहूँ सो खिलाने की छूट मुझे न दें, तो मैं आपकी स्त्री के लिए जिम्मेदार नहीं।”

मैंने उसी दिन डरबन की ट्रेन पकड़ी। डरबन पहुँचा। डोक्टर ने मुझसे कहा, “मैंने तो शोरवा पिलाने के बाद ही आपको टेलीफोन किया था!”

मैंने कहा, “डोक्टर, मैं इसे दगा समझता हूँ।”

डोक्टर ने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया, "दवा करते समय मैं दगा-वगा नहीं समझता। हम डोक्टर लोग ऐसे समय रोगी को अथवा उसके संबंधियों को धोखा देने में पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो किसी भी तरह रोगी को बचाना है!"

मुझे बहुत दुःख हुआ। पर मैं शान्त रहा। डोक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उन्होंने और उनकी पत्नी ने मुझ पर उपकार किया था। पर मैं उक्त व्यवहार सहन करने के लिए तैयार न था।

"डोक्टर साहब, अब स्थिति स्पष्ट कर लीजिए। कहिए, आप क्या करना चाहते हैं? मैं अपनी पत्नी को उसकी इच्छा के बिना माँस नहीं खिलाने दूँगा। माँस न लेने के कारण उनकी मृत्यु हो जाय, तो मैं उसे सहने के लिए तैयार हूँ।"

डोक्टर बोले, "आपकी फिलासफी मेरे घर में तो हरगिज़ नहीं चलेगी। मैं आपसे कहता हूँ कि जब तक अपनी पत्नी को आप मेरे घर में रहने देंगे, तब तक मैं उसे अवश्य ही माँस अथवा जो कुछ भी देना उचित होगा, दूँगा। यदि यह स्वीकार न हो तो आप अपनी पत्नी को ले जाइए। मैं अपने ही घर में जान-बूझकर उसकी मृत्यु नहीं होने दूँगा।"

"तो क्या आप यह कहते हैं कि मैं अपनी पत्नी को इसी समय ले जाऊँ?"

"मैं कब कहता हूँ कि ले जाइये? मैं तो यह कहता हूँ कि मुझ पर किसी प्रकार का अंकुश न रखिये। उस दशा में हम दोनों उसकी जितनी हो सकेगी उतनी सार-संभाल करेंगे और आप निश्चिन्त होकर जा सकेंगे। यदि यह सीधी-सी बात आप न समझ सकें, तो मुझे विवश होकर कहना होगा कि आप अपनी पत्नी को मेरे घर से ले जाइए।"

मेरा ख़याल है कि उस समय मेरा एक लड़का मेरे साथ था। मैंने उससे पूछा। उसने कहा, "आपकी बात मुझे मंजूर है। बा को माँस तो दिया ही नहीं जा सकता।"

फिर मैं कस्तूरबाई के पास गया। वह बहुत अशक्त थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था, किन्तु धर्म समझकर मैंने उसे थोड़े में उपर की बात कह सुनाई। उसने दृढ़ता-पूर्वक

उत्तर दिया: "मैं माँस का शोरवा नहीं लूँगी। मनुष्य की देह बार-बार नहीं मिलती। चाहे आपकी गोद में मैं मर जाऊँ, पर अपनी इस देह को भ्रष्ट तो नहीं होने दूँगी।"

जितना मैं समझा सकता था, मैंने समझाया और कहा, "तुम मेरे विचारों का अनुसरण करने के लिए बँधी हुई नहीं हो।"

हमारी जान-पहचान के कई हिन्दू दवा के लिए माँस और मद्य लेते थे, इसकी भी मैंने बात की। पर वह टस-से-मस न हुई और बोली : "मुझे यहाँ से ले चलिए।"

मैं बहुत प्रसन्न हुआ। ले जाने के विचार से घबरा गया। पर मैंने निश्चय कर लिया। डोक्टर को पत्नी का निश्चय सुना दिया। डोक्टर गुस्सा हुए और बोले :

"आप तो बड़े निर्दय पति मालूम पड़ते हैं। ऐसी बीमारी में उस बेचारी से इस तरह की बातें करने में आपको शरम भी नहीं आयी? मैं आपसे कहता हूँ कि आपकी स्त्री यहाँ से ले जाने लायक नहीं है। उसका शरीर इस योग्य नहीं है कि वह थोड़ा भी धक्का सहन करे। रास्ते में ही उसकी जान निकल जाए, तो मुझे आश्चर्य न होगा। फिर भी आप अपने हठ के कारण बिलकुल न मानें, तो आप ले जाने के लिए स्वतंत्र हैं। यदि मैं उसे शोरवा न दे सकूँ, तो अपने घर में एक रात रखने का भी खतरा मैं नहीं उठा सकता।" अतः वहाँ से निकल जाने का निर्णय कर लिया।

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबन से फ़ीनिक्स तक रैल का और फ़ीनिक्स से लगभग ढाई मील का पैदल रास्ता था। खतरा काफ़ी था, पर मैंने माना कि भगवान मदद करेगा। एक आदमी को पहले से फ़ीनिक्स भेज दिया। फ़ीनिक्स में हमारे पास 'हैमक' था। जालीदार कपड़े की झोली या पालने को हैमक कहते हैं। मैंने वेस्ट को खबर भेजी थी कि वे हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छह आदमियों का साथ लेकर स्टेशन पर आ जाएँ।

दूसरी ट्रेन के छूटने का समय होने पर मैंने रिक्शा मँगवाया और उसमें, इस खतरनाक हालत में, पत्नी को बैठाकर मैं रवाना हो गया।

मुझे पत्नी को हिम्मत नहीं बँधानी पड़ी; उलटे उसीने मुझे हिम्मत बँधाते हुए कहा; "मुझे कुछ नहीं होगा, आप चिन्ता न कीजिए।"

हड्डियों के इस ढाँचे में वजन तो कुछ रह ही नहीं गया था। खाया बिलकुल नहीं जाता था। ट्रेन के ड़िबे तक पहुँचने में स्टेशन के लंबे-चौड़े प्लेटफार्म पर दूर तक चलकर जाना पड़ता था । वहाँ तक रिक्शा नहीं जा सकता था । मैं उसे उठाकर ड़िबे तक ले गया। फ़ीनिक्स पहुँचने पर तो वह झोली आ गयी थी। उसमें बीमार को आराम से ले गये। वहाँ केवल पानी के उपचार से धीरे-धीरे कस्तूरबाई का शरीर पुष्ट होने लगा।

४८. घर में सत्याग्रह

मुझे ज़ेल का पहला अनुभव सन १९०८ में हुआ। उस समय मैंने देखा कि ज़ेल में क़ैदी से जो कुछ नियम पलवाये जाते हैं, संयमी अथवा ब्रह्मचारी को उनका पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिए। जैसे, क़ैदी को सूर्यास्त से पहले पाँच बजे तक खा लेना होता है। उन्हें – हिन्दुस्तानी और हब्शी क़ैदी को – चाय या कोफी नहीं दी जाती। नमक खाना हो तो अलग से लेना होता है। स्वाद के लिए तो कुछ खाया ही नहीं जा सकता ।

जब मैंने ज़ेल के डोक्टर से हिन्दुस्तानियों के लिए 'करी पाउडर' माँगा और नमक बनती हुई रसोई में ही डालने की बात कही, तो वे बोले, “यहाँ आप लोग स्वाद का आनन्द लूटने के लिए नहीं आये हैं। आरोग्य की दृष्टि से 'करी पाउडर” की कोई आवश्यकता नहीं है। आरोग्य के विचार से नमक ऊपर से लें या पकाते समय रसोई में डालें, दोनों एक ही बात है।”

वहाँ तो बड़ी मेहनत के बाद हम आख़िर ज़रूरी परिवर्तन करा सके थे। पर केवल संयम की दृष्टि से देखें, तो दोनों प्रतिबंध अच्छे ही थे। ऐसा प्रतिबन्ध जब ज़बरदस्ती लगाया जाता है, तो वह सफल नहीं होता। पर स्वेच्छा से पालन करने पर ऐसा प्रतिबन्ध बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। अतएव ज़ेल से छूटने के बाद मैंने ये परिवर्तन भोजन में तुरन्त किये। भरसक चाय पीना बन्द किया और शाम को जल्दी खाने की आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गयी है।

किन्तु एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण मैंने नमक का त्याग-किया, जो लगभग दस वर्ष तक अखंड रूप से कायम रहा। अन्नाहार-संबंधी कुछ पुस्तकों में मैंने पढ़ा था कि मनुष्य के लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है और न खाने वाले को आरोग्य की दृष्टि से लाभ ही होता है। यह तो मुझे सूझा ही था कि नमक न खाने से ब्रह्मचारी को लाभ होता है। मैंने यह भी पढ़ा और अनुभव किया था कि कमज़ोर शरीर वाले को दाल न खानी चाहिए। किन्तु मैं उन्हें तुरन्त छोड़ न सका था। दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

यद्यपि उक्त शस्त्रक्रिया के बाद कस्तूरबाई का रक्तस्राव थोड़े समय के लिए बन्द हो गया था, पर अब वह फिर शुरू हो गया और किसी प्रकार बन्द ही न होता था। अकेले पानी के उपचार

व्यर्थ सिद्ध हुए। यद्यपि पत्नी को मेरे उपचारों पर विशेष "श्रद्धा नहीं थी, तथापि उनके लिए तिरस्कार भी नहीं था। दूसरी दवा करने का आग्रह न था। मैंने उसे नमक और दाल छोड़ने के लिए मनाना शुरू किया। बहुत मनाने पर भी, अपने कथन के समर्थन में कुछ-न-कुछ पढ़कर सुनाने पर भी, वह मानी नहीं। आख़िर उसने कहा: "दाल और नमक छोड़ने को तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेंगे।" मुझे दुःख हुआ और हर्ष भी हुआ। मुझे अपना प्रेम उँड़ेलने का अवसर मिला। उसके हर्ष में मैंने तुरन्त ही कहा, "तुम्हारा यह ख़याल ग़लत है। मुझे बीमारी हो और वैद्य इस चीज़ को या दूसरी किसी चीज़ को छोड़ने के लिए कहे, तो मैं अवश्य छोड़ दूँ। लेकिन जाओ, मैंने तो एक साल के लिए दाल और नमक दोनों छोड़े। तुम छोड़ो या न छोड़ो, यह अलग बात है।"

पत्नी को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी, "मुझे माफ़ कीजिए। आपका स्वभाव जानते हुए भी मैं कहते कह गयी। अब मैं दाल और नमक नहीं खाऊँगी, लेकिन आप अपनी बात लौटा लें। यह तो मेरे लिए बहुत बड़ी सज़ा हो जाएँगी।"

मैंने कहा, "अगर तुम दाल और नमक छोड़ोगी, तो अच्छा ही होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ होगा। पर मैं ली हुई प्रतिज्ञा वापस नहीं ले सकूँगा। मुझे तो इससे लाभ ही है। मनुष्य किसी भी निमित्त से संयम क्यों न पाले, उसमें उसे लाभ ही है। अतएव तुम मुझसे आग्रह न करो। फिर मेरे लिए भी यह एक परीक्षा हो जाएगी और इन दो पदार्थों को छोड़ने का जो निश्चय तुमने किया है, उस पर दृढ़ रहने में तुम्हें मदद मिलेगी।" इसके बाद मुझे उसे मनाने की ज़रूरत तो रही ही नहीं। "आप बहुत हठीले हैं। किसी की बात मानते ही नहीं।" कहकर और अंजलि-भर आँसू बहाकर वह शान्त हो गयी।

मैं इसे सत्याग्रह का नाम देना चाहता हूँ और इसको अपने जीवन की मधुर स्मृतियों में से एक मानता हूँ।

इसके बाद कस्तूरबाई की तबीयत खूब संभली।

नमक और दाल छुड़ाने के प्रयोग मैंने दूसरे साथियों पर भी काफ़ी किये हैं और दक्षिण अफ़्रीका में तो उनके परिणाम अच्छे ही आये हैं। वैद्यक दृष्टि से दोनों चीज़ों के त्याग के विषय में दो मत हो सकते हैं, पर इसमें मुझे कोई शंका ही नहीं कि संयम की दृष्टि से तो इन दोनों चीज़ों के त्याग में लाभ ही हैं। भोगी और संयमी के आहार भिन्न होने चाहिए, उनके मार्ग भिन्न होने चाहिए।

४९. संयम की ओर

आगे चलकर ब्रह्मचर्य की दृष्टि से आहार में परिवर्तन होने लगे।

टोल्स्टोय फार्म पर दूध का त्याग किया। यह घटना सन १९१२ में घटी।

इतने त्याग से मुझे शान्ति न हुई। दूध छोड़ने के कुछ ही समय बाद केवल फलाहार के प्रयोग का भी हमने निश्चय किया। फलाहार में भी जो सस्ते से सस्ते फल मिलें, उनसे ही अपना निर्वाह करने का हमारा निश्चय था।

जिन दिनों मैंने दूध और अनाज छोडकर फलाहार का प्रयोग शुरू किया। उन्हीं दिनों संयम के हेतु से उपवास भी शुरू किये।

दूसरे उपवासों और एकाशनों में भी आश्रमवासी सम्मिलित होने लगे। और, मैं मानता हूँ कि इसका परिणाम शुभ निकला। सबके हृदयों पर संयम का कितना प्रभाव पड़ा, सबके विषयों को संयत करने में उपवास आदिने कितना हाथ बँटाया, यह मैं निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता। पर मेरा अनुभव यह है कि उपवास आदि से मुझ पर तो आरोग्य और विषय-नियमन की दृष्टि से बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इन्द्रियदमन के हेतु से किये गये उपवास से ही विषयों को संयत करने का परिणाम निकल सकता है। कुछ मित्रों का यह अनुभव भी है कि उपवास की समाप्ति पर विषयेच्छा और स्वाद तीव्र हो जाते हैं। मतलब यह कि उपवास के दिनों में विषय को संयत करने और स्वाद को जीतने की सतत भावना बनी रहने पर ही उसका शुभ परिणाम निकल सकता है। गीताजी के दूसरे अध्याय का यह श्लोक यहाँ बहुत विचारणीय है :

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

उपवासी के विषय (उपवास के दिनों में) शान्त होते हैं; पर उसका रस नहीं जाता। रस तो ईश्वर-दर्शन से ही – ईश्वर-प्रसाद से ही शान्त होता है।

तात्पर्य यह कि संयमी के मार्ग में उपवास आदि एक साधन के रूप में हैं, किन्तु ये ही सब कुछ नहीं हैं। और यदि शरीर के उपवास के साथ मन का उपवास न हो, तो उसकी परिणति दंभ में होती है और वह हानिकारक सिद्ध होता है।

आत्मा की शिक्षा एक बिलकुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टोल्स्टोय आश्रम के बालकों को सिखाने लगा उसके पहले ही जान चुका था। आत्मा का विकास करने का अर्थ है चरित्र का निर्माण करना, ईश्वर का ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञान को प्राप्त करने में बालकों को बहुत ज़्यादा मदद की ज़रूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाए? मैं बालकों से भजन गवाता, उन्हें नीति की पुस्तकें पढ़कर सुनाता, किन्तु इससे मुझे संतोष न होता था। जैसे-जैसे मैं उनके संपर्क में आता गया, मैंने यह अनुभव किया कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा तो दिया ही नहीं जा सकता। शरीर की शिक्षा जिस प्रकार शारीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धि की बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही दी जा सकती है। आत्मा की कसरत शिक्षक के आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव युवक हाज़िर हों चाहे न हों, शिक्षक को सावधान रहना चाहिए। लंका में बैठा हुआ शिक्षक भी अपने आचरण द्वारा अपने शिष्यों की आत्मा को हिला सकता है। मैं स्वयं झूठ बोलूँ और अपने शिष्यों को सच्चा बनाने का प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्यों को वीरता नहीं सीखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्यों को संयम किस प्रकार सिखायेगा? मैंने देखा कि मुझे अपने पास रहने वाले युवकों और युवतियों के सम्मुख पदार्थपाठ-सा बनकर रहना चाहिए। इस कारण मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बने। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिए। अतएव कहा जा सकता है कि टोल्स्टोय आश्रम का मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियों की बदौलत था।

५०. वकालत के कुछ संस्मरण

वकालत का धंधा झूठ बोले बिना चल ही नहीं सकता। ऐसा मैं जब विद्यार्थी था तब से सुनता आया हूँ।जूठ बोलकर मैं न तो कोई पद लेना चाहता था और न पैसा कमाना चाहता था। इसलिए इन बातों का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

मुवक्किल को मैं शुरू से ही कह देता था: "मामला झूठा हो तो मेरे पास मत आना। साक्षी को सिखाने-पढ़ाने का काम करने की मुझसे कोई आशा न रखना।" आख़िर मेरी साख तो यही कायम हुई थी कि झूठे मुक़द्दमे मेरे पास आते ही नहीं।

एक अवसर ऐसा भी आया।

जब चलते मुक़द्दमे के दौरान में मैंने देखा कि मेरे मुवक्किल ने मुझे ठग लिया है। मुक़द्दमा जोहानिसबर्ग की मजिस्ट्रेट की कोर्ट में चलता था। उसका मुक़द्दमा झूठा था। वह कठहरे में खड़ा इस तरह काँप रहा था, मानो अभी गिर पड़ेगा। अतएव मैंने मजिस्ट्रेट को मुवक्किल के विरुद्ध फैसला देने को कहा और मुवक्किल बैठ गया। प्रतिपक्षी का वकील आश्चर्यचकित हो गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मुवक्किल को मैंने उलाहना दिया। वह जानता था कि मैं झूठे मुक़द्दमे नहीं लेता था। उसने यह बात स्वीकार की और मैं मानता हूँ कि मैंने उसके खिलाफ़ फ़ैसला माँगा, इसके लिए वह गुस्सा न हुआ। जो भी हो, पर मेरे इस बरताव का कोई बुरा प्रभाव मेरे धंधे पर नहीं पड़ा, और अदालत में मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि सत्य की मेरी इस पूजा से वकील-बंधुओं में भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी और विचित्र परिस्थितियों के रहते हुए भी उनमें से कुछ की प्रीति मैं प्राप्त कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने एक ऐसी आदत भी डाली थी कि अपना अज्ञान न मैं मुवक्किलों से छिपाता था और न वकीलों से। जहाँ-जहाँ मुझे कुछ सूझ न पड़ता वहाँ-वहाँ मैं मुवक्किल से दूसरे वकील के पास जाने को कहता अथवा मुझे वकील करता तो मैं उससे कहता कि अपने से अधिक अनुभवी वकील की सलाह लेकर मैं उसका काम करूँगा। अपने इस शुद्ध व्यवहार के कारण मैं मुवक्किलों का अटूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था।

मेरे मुवक्किल, साथी तथा मित्र पारसी रुस्तमजी एक बार बड़ी मुश्किल में फँस गये। अपने व्यापार की भी बहुत सी बातें वे मुझसे किया करते थे। लेकिन एक बात उन्होंने मुझसे छिपा रखी थी। पारसी रुस्तमजी चुंगी की चोरी किया करते थे। वे बम्बई-कलकत्ते से जो माल मँगाते थे, सब अधिकारियों से उनका अच्छा मेलजोल था, इस कारण कोई उन पर शक करता ही न था। वे जो बीजक पेश करते, उसी पर चुंगी ले ली जाती थी। ऐसे भी अधिकारी रहे होंगे, जो उनकी चोरी की ओर से आँखें मूँद लेते होंगे।

वे दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। आँखों से आँसू बह रहे थे और वे कह रहे थे : "भाई, मैंने आपसे कपट किया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैंने चुंगी की चोरी की है। अब मेरे भाग्य में तो ज़ेल ही हो सकती है। मैं बरबाद होने वाला हूँ। इस आफ़त से आप ही मुझे बचा सकते है।

मैंने धीरज देकर कहा : "मेरी रीति से तो आप परिचित ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना खुदा के हाथ है। अपराध स्वीकार करके छुड़ाया जा सके, तो ही मैं छुड़ा सकता हूँ।"

इन भले पारसी का चेहरा उतर गया।

रुस्तमजी सेठ बोले : "लेकिन आपके सामने मेरा अपराध स्वीकार कर लेना क्या काफ़ी नहीं है?"

मैंने धीरे से जवाब दिया : "आपने अपराध तो सरकार का किया है और स्वीकार मेरे सामने करते हैं। इससे क्या होता है?"

मैंने उन्हें समझाया : "मैं इस मामले को अदालत में जाने लायक नहीं मानता। मुक़द्दमा चलाना न चलाना चुंगी-अधिकारी के हाथ में है। उसे भी सरकार के मुख्य वकील की सलाह के अनुसार चलना पड़ेगा। मैं दोनों से मिलने को तैयार हूँ, मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। बहुत करके तो वे मान जाएँगे। पर कदाचित् न मानें तो आपको ज़ेल के लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो यह मत है कि लज्जा ज़ेल जाने में नहीं, बल्कि चोरी करने में है। लज्जा का काम तो हो चुका है। ज़ेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझिये। सच्चा प्रायश्चित्त तो भविष्य में फिर कभी चुंगी की चोरी न करने की प्रतिज्ञा में है।"

मैं नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सारी बातों को भलीभाँती समझ गये थे। वे बहादुर आदमी थे। पर इस बार हिम्मत हार गये थे। उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होने का समय आ गया था। और प्रश्न यह था कि कहीं उनकी अपनी मेहनत से बनायी हुई इमारत ढह न जाये।

मैंने इस मामले में विनय की अपनी सारी शक्ति लगा दी। मैं अधिकारी से मिला और सारी चोरी की बात उससे निर्भयता-पूर्वक कह दी। सब बहीखाते दिखा देने को कहा और पारसी रुस्तमजी के पश्चात्ताप की बात भी कही।

मैंने कहा : "पारसी रुस्तमजी को अदालत में घसीटने पर ज़ोर न दिया जाए, तो मुझे संतोष हो जाएँगा।"

इस अधिकारी से अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकील से पत्रव्यवहार शुरू किया। उनसे मिला। मुझे कहना चाहिए कि मेरी सत्यप्रियता उनके ध्यान में आ गयी। मैं उनके सामने यह सिद्ध कर सका कि मैं उनसे कुछ छिपा नहीं रहा हूँ।

रुस्तमजी पर मुक़द्दमा नहीं चला। उनके द्वारा कुबूल की गयी चुँगी की चोरी के दूने रुपये लेकर मुक़द्दमा उठा लेने का हुक्म जारी हुआ।

रुस्तमजी ने अपनी चुंगी चोरी की कहानी लिखकर शीशे में मढवाली और उसे अपने दफ़्तर में टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारयों को चेतावनी दी।

५१. सत्याग्रह का जन्म

झूलु बंड की नौकरी पूर्ण करके मैं मित्रों के मिलने फ़ीनिक्स पहुँचा। फ़ीनिक्स के सब मित्रों से मिल कर मैं तुरन्त जोहानिसबर्ग पहुंच गया। वहाँ ओफिस में मैंने ऊपर बताये एशियाटिक बिल का मसौदा पढा। २२ अगस्त, १९०६ को प्रकाशित हुआ ट्रान्सवाल सरकार का वह असाधारण गज़ट जिसमें बिल का मसौदा छपा था।

इस बिल के आधार पर ट्रान्सवाल में रहने का अधिकार रखने वाले प्रत्येक हिन्दुस्तानी पुरुष, स्त्री और आठ वर्ष के अथवा आठ वर्ष से ऊपर के बालक-बालिकाओं को एशियाटिक विभाग के दफ़्तर में नाम लिखा कर परवाना ले लेना चाहिए। ये परवाने लेते समय अपने पुराने परवाने वहाँ के अधिकारियों को सोंप देने चाहिए। अरज़ी में हर हिन्दुस्तानी को अपना नाम, पता, जाति, उमर बगैरा लिखना चाहिए। नाम दर्ज करने वाले अधिकारी (रजिस्ट्रार) को अर्ज़दार के शरीर पर कोई खास निशानियाँ हों तो उन्हें लिख लेना चाहिए और अर्ज़दार की सब अंगुलियों और अंगूठे की छाप लेनी चाहिए। निश्चित की हुई अवधि के भीतर जो हिन्दुस्तानी स्त्री-पुरुष इस तरह अरजी न करें, उनके ट्रान्सवाल में रहने के अधिकार रद हो जाएँगे। अरज़ी न करना क़ानून के अनुसार अपराध माना जाएगा। इस अपराध के लिए जुर्माना किया जा सकता है, ज़ेल की सज़ा हो सकती है और कोई उचित समझे तो अपराधी को देशनिकाले की सज़ा भी दे सकती है। इस परवाने की माँग रास्ते चलते यात्री से भी की जा सकती है। परवानों की जाँच करने के लिए पुलिस अधिकारी लोगों के घरों में भी प्रवेश कर सकते हैं।

जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस प्रकार का क़ानून दुनिया के किसी भी हिस्से में स्वतंत्र मानवों के लिए नहीं बनाया गया होगा।

दूसरे दिन अग्रगण्य हिन्दुस्तानियों को एकत्र करके मैंने उन्हें यह बिल अक्षरशः समझाया। इसके फलस्वरूप उन लोगों पर बिल का वही असर हुआ, जो मुझ पर हुआ था। सब कोई बिल की गंभीरता को समझ गये। यह निर्णय किया गया एक सार्वजनिक सभा की जाएँ।

११ सितम्बर १९०६ को हिन्दुस्तानियों की सभा हुई। सभा में जितने प्रस्ताव पास हुए थे उसमें चौथा प्रस्ताव बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

'इस बिल के विरोध में सारे उपाय किये जाने के बावजूद यदि वह धारासभा में पास हो ही जाएँ, तो हिन्दुस्तानी उसके सामने हार न मानें और हार न मानने के फलस्वरूप जो जो दुःख भोगने पड़ें उन सबको बहादुरी से सहन करें।'

हम में से कोई यह जानता नहीं था कि इस निश्चय को अथवा आंदोलन को क्या नाम दिया जा सकता है।

श्री मगनलाल गांधी ने 'सदाग्रह' नाम भेजा। कारण बताते हुए उन्होंने लिखा कि हिन्दुस्तानियों का यह आन्दोलन एक महान 'आग्रह' है और यह आग्रह 'सद्' अर्थात् शुभ है, इसीलिए उन्होंने यह नाम चुना है। परन्तु जिस वस्तु का समावेश मैं सुझाये हुए नाम में करना चाहता था वह इसमें नहीं आती थी। इसीलिए मैंने 'द्' का 'त्' करके उसमें 'य' जोड़ दिया और 'सत्याग्रह' नाम बना दिया। सत्य के भीतर शांति का समावेश मानकर और किसी भी वस्तु का आग्रह करने से उसमें बल उत्पन्न होता है इसलिए आग्रह में बल का समावेश करके मैंने भारतीयों के इस आन्दोलन को 'सत्याग्रह' अर्थात् सत्य और शांति से उत्पन्न होनेवाले बल – का नाम दिया और उसी नाम से इसका परिचय कराया। और तबसे 'पैसिव रेज़िस्टेन्स' शब्द का उपयोग इस आन्दोलन के लिए बन्द कर दिया।

५२. क़ैद

१९०७ की पहली जुलाई आई। परवाने देने वाले सरकारी दफ़्तर खुले। कौम का आदेश था कि हरएक दफ़्तर के सामने खुले आम पिकेटिंग किया जाय – अर्थात् दफ़्तर जाने के मार्गों पर स्वयंसेवक रखे जाएँ और वे दफ़्तर में जाने वाले लोगों को वहां बिछाये गये जाल से सावधान करें।

अथक परिश्रम करने के बाद भी जब एशियाटिक ओफिस को ५०० से अधिक नाम नहीं मिल सके, तो एशियाटिक विभाग के अधिकारी इस निर्णय पर आये कि किसी न किसी हिन्दुस्तानी को गिरफ़्तार करना चाहिए। जर्मिस्ट में बहुत से हिन्दुस्तानी रहते थे। उनमें से एक रामसुन्दर पंडित हिन्दुस्तानी भी था। उसने जगह-जगह भाषण दिये। अपने भाषणों को वह खूब जोशीले बना सकता था। जर्मिस्टन के कुछ विघ्न-संतोषी हिन्दुस्तानियों ने एशियाटिक ओफिस से कहा कि यदि रामसुन्दर पंडित को गिरफ़्तार कर लिया जाय, तो जर्मिस्टन के बहुत से हिन्दुस्तानी एशियाटिक ओफिस से परवाने ले लेंगे। उस ओफिस का अधिकारी रामसुन्दर पंडित को पकड़ने के प्रलोभन से अपने को रोक नहीं सका। रामसुन्दर पंडित गिरफ़्तार कर लिया गया। इस तरह का यह पहला ही मुक़द्दमा होने से सरकार और हिन्दुस्तानी कौम में बड़ी खलबली मच गई।

जिस दिन उसे ज़ेल की सज़ा मिली वह दिन कौम ने बड़ी धूमधाम से मनाया। कौम का एक भी आदमी उसके ज़ेल जाने से निराश नहीं हुआ, बल्कि सारी कौम का उत्साह और जोश बढ़ गया। सैकड़ों हिन्दुस्तानी ज़ेल जाने को तैयार हो गये। एशियाटिक ओफिस की आशा पूरी नहीं हुई। जर्मिस्टन के हिन्दुस्तानी भी परवाना लेने नहीं गये। कौम को ही लाभ हुआ।

लेकिन रामसुन्दर पंडित खोटा सिक्का निकला। फिर भी स्वच्छन्द घूमने वाला और साथ ही व्यसनी आदमी ज़ेल के एकांतवास को तथा अनेक प्रकार का भोजन मिलने पर भी ज़ेल के संयम को सहन नहीं कर सकता। यही स्थिति रामसुन्दर पंडित की हुई। कौम के लोगों का और ज़ेल के अधिकारियों का इतना सम्मान मिलने पर भी ज़ेल उसे कड़वा लगा और वह ट्रान्सवाल तथा सत्याग्रह की लड़ाई को अंतिम नमस्कार करके रातोंरात भाग खड़ा हुआ।

परन्तु रामसुन्दर का पूरा इतिहास मैंने उसका दोष दिखाने के लिए यहां नहीं दिया है; यह इतिहास मैंने इस घटना के भीतर छिपे गूढ़ अर्थ को प्रकट करने के लिए ही दिया है। प्रत्येक शुद्ध आन्दोलन के नेताओं का यह कर्तव्य है कि वे शुद्ध आन्दोलन में शुद्ध आदमियों को ही भरती करें।

एशियाटिक ओफिस के अधिकारियों ने सोचा कि, कौम के अमुक नेताओं को गिरफ़्तार नहीं किया जायगा तब तक लड़ाई का बल कभी टूट नहीं सकेगा। इसके फलस्वरूप दिसम्बर १९०७ के अंतिम सप्ताह में कुछ नेताओं को अदालत में हाज़िर होने की नोटिस मिली।

निश्चित किये हुए दिन – शनिवार,

ता॰ २८-१२-१९०७ को – अदालत में जो नेता हाज़िर रहे थे उन्हें इस तरह की नोटिस का उत्तर देना था: 'क़ानून के अनुसार आप लोगों को परवाने प्राप्त कर लेने चाहिए थे, फिर भी आपने प्राप्त नहीं किये। इसलिए आपको ऐसा हुक्म क्यों न दिया जाय कि अमुक समय के भीतर आप ट्रान्सवाल की सीमा छोड़ दें?'

लेकिन सबके केस अलग-अलग चलाये गये थे। मजिस्ट्रेट ने कुछ लोगों को ४८ घंटों के भीतर और बाकी को ७ या १४ दिन में ट्रान्सवाल छोड़ देने का आदेश दिया। इस आदेश की अवधि १० जनवरी, १९०८ को पूरी होती थी। उसी दिन हमें सज़ा सुनने के लिए अदालत में उपस्थित होने का आदेश मिला था।

हम में से किसीको अपना बचाव तो करना ही नहीं था। क़ानून के अनुसार परवाने न लेने के कारण निश्चित अवधि में ट्रान्सवाल की सीमा छोड़ देने का मजिस्ट्रेट ने जो आदेश दिया था, उसका सविनय अनादर करने का अपराध हम सबको स्वीकार करना था।

मैंने अदालत से एक छोटासा वक्तव्य देने की इजाज़त माँगी। वह इजाज़त मुझे मिली। मैंने इस आशय का वक्तव्य दिया : मेरे मुक़द्दमे में और मेरे बाद आने वाले लोगों के मुक़द्दमे में भेद किया जाना चाहिए। मुझे अभी-अभी प्रिटोरिया से ये समाचार मिले हैं कि वहाँ मेरे देशबन्धुओं को तीन मास की कड़ी क़ैद की सज़ा और भारी जुर्माना हुआ है और जुर्माना न देने पर तीन मास

की कड़ी क़ैद की सज़ा दी गई हैं। अगर उन लोगों ने अपराध किया है, तो मैंने उनसे कहीं बड़ा अपराध किया है। इसलिए मजिस्ट्रेट से मेरी प्रार्थना है कि वे मुझे कड़ी से कड़ी सज़ा दें।

दूसरे अथवा तीसरे दिन से सत्याग्रही क़ैदी बड़ी संख्या में आने लगे थे। वे जान-बूझकर गिरफ़्तार होते थे। उनमें से अधिकतर लोग फेरी लगाने वाले ही थे। फेरीवाले लोग इसमें सबसे आगे रहे। उनके लिए गिरफ़्तार होना आसान भी था। उन्हें केवल परवाने बताने से इनकार करना होता था; उसके बाद उनका गिरफ़्तार होना निश्चित था। एक हफ़्ते में इस तरह गिरफ़्तार होने वाले सत्याग्रही क़ैदी की संख्या १०० से अधिक हो गई। और थोड़े-बहुत क़ैदी तो रोज़ ही आते थे, इसलिए हमें बगैर अखबार के ही सारे समाचार मिल जाते थे। जब बड़ी संख्या में सत्याग्रही गिरफ़्तार किये जाने लगे तब सरकार की ओर से मजिस्ट्रेटों को सूचना की गई कि कड़ी क़ैद की सज़ा ही दी जाय।

जोहनिसबर्ग की ज़ेल में सादी क़ैद की सजा वाले क़ैदी को भोजन में सबेरे मक्का के आटे की लपसी या काँजी मिलती थी। उसमें नमक डाला नहीं जाता था, परन्तु हर क़ैदी को अलग से थोड़ा नमक दिया जाता था। दोपहर बारह बजे चार औंस भात, ऊपर से नमक और एक औंस घी और चार औंस ड़ाल-रोटी दी जाती थी। शाम को मक्का के आटे की काँजी और उसके साथ थोड़ा साग साग में भी मुख्यतः आलू दिये जाते थे। आलू छोटे होते तो दो दिये जाते और बड़े होते तो एक दिया जाता था। इतने भोजन से किसीका भी पेट नहीं भरता था। चावल चिकने और गीले पकाये जाते थे। हमने ज़ेल के डोक्टर से थोड़े मसाले की माँग की और कहा कि हिन्दुस्तान की ज़ेलों में क़ैदियों को मसाला मिलता है। डोक्टर ने कड़ा उत्तर दिया: “यह हिन्दुस्तान नहीं है। क़ैदी के लिए स्वाद नहीं होता, इसलिए मसाला भी नहीं हो सकता।” हमने दाल की माँग की और कारण में यह बताया कि ज़ेल के भोजन में स्नायुओं को पुष्ट करने वाले कोई तत्त्व नहीं हैं। इस पर डोक्टर ने कहा : “क़ैदियों को डोक्टरी दलील नहीं करनी चाहिए । आपको स्नायु-पोषक भोजन दिया जाता है, क्योंकि सप्ताह में दो बार आपको मक्का के बदले में शाम के भोजन में उबली हुई मटर दी जाती है।” यदि मनुष्य का पेट एक हफ़्ते या पखबारे में अलग-अलग समय

पर मिलने वाले अलग-अलग तत्त्वों से युक्त भोजन में से शरीर के लिए आवश्यक तत्त्व खींच लेने की शक्ति रखना हो, तब तो डोक्टर का यह तर्क सही था।

इस तरह ज़ेल में हम लगभग १५ दिन रहे होंगे कि बाहर से आने वाले नये लोग यह समाचार लाने लगे कि सरकार के साथ समझौता करने की कोई बातचीत चल रही हैं।

उस मसौदे का आशय इस प्रकार था : हिन्दुस्तानियों को स्वेच्छा से अपने परवाने बदल लेने चाहिए। और यदि हिन्दुस्तानी कौम का मुख्य भाग स्वेच्छा से परवाने ले लेगा, तो सरकार खूनी क़ानून रद कर देगी और स्वेच्छा से लिए गये परवानों को क़ानूनी मान्यता देने के लिए नया क़ानून पास करेगी। समझौते के इस मसौदे में खूनी क़ानून रद करने की बात स्पष्ट नहीं थी। अपनी दृष्टि से यह बात स्पष्ट करने जितना परिवर्तन मैंने मसौदे में सुझाया।

जनरल स्मट्स को मिलने के लिए मुझे प्रिटोरिया ले जाया गया। बातचीत के उपरान्त मैं जो परिवर्तन सुझाया था इसके संबंध में ज़रूरी समझौता के मसौदी को उन्होंने स्वीकार लिया। क़ैदियों को छोड़ दिये गये। मैंने अपने देशवासियों को मसौदे को समझाना शुरू किया।

५३. हमला

मैंने तो दस अंगुलियों की छाप देने की स्वीकृति दी इससे कुछेक पठानभाई मुझ पर खफ़ा हुए।

ता॰ १०-२-१९०८ के सबेरे हम में से कुछ लोग परवाने लेने के लिए एशियाटिक ओफिस में जाने को तैयार हो गये। कौम के लोगों को अच्छी तरह समझा दिया गया था कि परवाने लेने का काम यथासंभव जल्दी से जल्दी पूरा कर देना चाहिए। और सलाह-मशविरे के बाद यह बात भी तय हो गई थी कि पहले दिन कौम के नेता ही सबसे पहले परवाने लेने जाएँगे। इसके पीछे उद्देश्य लोगों का संकोच दूर करना, एशियाटिक विभाग के अधिकारी अपना काम शिष्टता से करते हैं या नहीं यह जानना और अन्य प्रकार से उस काम की सारी व्यवस्था पर देखरेख रखना था। मेरा ओफिस सत्याग्रह-मंडल का भी ओफिस था। वहाँ पहुँचते ही मैंने ओफिस की दीवाल के बाहर मीर आलम और उसके साथियों को खड़ा देखा।

मीर आलम मेरा पुराना मुवक्किल था। अपने हर काम में वह मेरी सलाह लेता था। उसकी ऊंचाई ६ फुट से अधिक थी। वह क़द्दावर और दोहरे शरीर का आदमी था। आज पहली ही बार मैंने मीर आलम को ओफिस के अन्दर न देखकर बाहर खड़ा देखा और हम दोनों की आँखें मिलने पर भी उसने पहली ही बार मुझे सलाम नहीं किया। लेकिन मैंने उसे सलाम किया, इसलिए उसने भी मुझे सलाम किया। अपनी आदत के अनुसार मैंने उससे पूछा: “कैसे हो?” मेरा ऐसा ख़याल है कि उसने जवाब में कहा था : “अच्छा हूँ।” परन्तु आज उसके चेहरे पर हमेशा की मुसकान नहीं थी। मैंने देखा कि उसकी आँखों में गुस्सा भरा है। यह बात मैंने मन में लिख ली। मुझे यह भी लगा कि आज कुछ न कुछ होने वाला है। मैंने ओफिस में प्रवेश किया। अध्यक्ष ईसप मियाँ और दूसरे मित्र भी आ पहुँचे और हम एशियाटिक ओफिस की ओर चल पड़े। मीर आलम और उसके साथी भी हमारे पीछे-पीछे आये।

एशियाटिक ओफिस की इमारत वोन ब्रेन्डिस स्क्वेअर में थी। वोन ब्रेन्डिस स्ट्रीट में चलते-चलते हमने मेसर्स आरनोट और गिब्सन की सीमा छोड़ी। वहाँ से एशियाटिक ओफिस तीनेक मिनट के फ़ासले पर रहा होगा कि मीर आलम मेरी बगल में आ गया। उसने मुझसे पूछा : “कहाँ

जाते हो?" मैंने उत्तर दिया : "मैं दस अंगुलियों की छाप देकर रजिस्टर (परवाना) निकलवाना चाहता हूँ। अगर तुम भी चलोंगे तो तुम्हें दस अंगुलियों की छाप देने की ज़रूरत नहीं है। तुम्हारा परवाना (सिर्फ़ दो अंगूठों की छाप के साथ) पहले निकलवाने के बाद मैं अंगुलियों की छाप देकर अपना निकलवाऊँगा।"

अंतिम वाक्य मैंने मुश्किल से पूरा किया होगा कि मेरी खोपड़ी पर पीछे से लाठी का एक वार हुआ। मैं 'हे राम' बोलते-बोलते बेहोश होकर ज़मीन पर लुढ़क गया। बाद में क्या हुआ, इसका मुझे कोई भान नहीं था। लेकिन मीर आलम ने और उसके साथियों ने मुझ पर लाठियों के अधिक वार किये और लातें भी मारीं। उनमें से कुछ ईसप मियाँ और थंबी नायडू ने झेलीं। इस कारण से ईसप मियाँ और थंबी नायडू पर भी थोड़ी मार पड़ी। इतने में शोरगुल मचा। आने-जाने वाले गोरे इकट्ठे हो गये। मीर आलम और उसके साथी भागे, लेकिन गोरोंने उन्हें पकड़ लिया। इस बीच पुलिस भी आ पहुँची। उसने पठानों को हिरासत में ले लिया।

पास ही श्री जे॰ सी॰ गिब्सन का ओफिस था। मुझे उठाकर वहाँ ले जाया गया। कुछ देर बाद मुझे होश आया तब मैंने रेवरेंड डोक को अपने चेहरे पर झुके हुए देखा। उन्होंने मुझसे पूछा : "आपको कैसा लगता है?"

मैंने हंसकर जवाब दिया : "अब ठीक हूँ। लेकिन मेरे दांतों में और पसलियों मे दर्द होता है।" फिर मैंने पूछा : "मीर आलम कहाँ है?"

डोक बोले : "उसे और उसके साथियों को गिरफ़्तार कर लिया गया है।

मैंने कहा : "वे छूटने चाहिए।"

डोक : "वह सब तो होता रहेगा। लेकिन आप यहाँ एक अपरिचित के ओफिस में पड़े हैं। आपका होंठ फट गया है। पुलिस आपको अस्पताल ले जाने को तैयार है। लेकिन अगर आप मेरे यहाँ चलें तो मैं और श्रीमती डोक आपकी यथाशक्ति सार-संभाल करेंगे।"

मैंने कहा : "मुझे आपके ही घर ले चलिए। पुलिस के प्रस्ताव के लिए उसे धन्यवाद दीजिए। लेकिन उससे कहिए कि मुझे आपके यहाँ जाना ज़्यादा पसंद है।"

इतने में एशियाटिक विभाग के अधिकारी श्री चमनी भी आ पहुँचे। मुझे एक गाड़ी में लिटा कर भले पादरी श्री डोक के स्मिट स्ट्रीट स्थित निवास-स्थान पर ले जाया गया। मेरी जाँच के लिए एक डोक्टर को बुलाया गया। इस बीच मैंने श्री चमनी से कहा : "मेरी आशा तो यह थी कि आपके ओफिस में आकर और दस अंगुलियों की छाप देकर पहला परवाना मैं लूँगा। लेकिन ईश्वर को यह स्वीकार नहीं था। अब मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इसी समय जाकर ज़रूरी क़ागज़ात ले आइये और पहला परवाना मुझे दीजिए। में आशा रखता हूँ कि मेरे पहले आप दूसरे किसीको परवाना नहीं देंगे ।"

उन्होंने कहा : "ऐसी क्या जल्दी है? अभी डोक्टर आयेगा। आप आराम करें। बाद में सब कुछ हो जाएँगा। दूसरों को परवाना दूँगा तो भी आपका नाम सबसे पहला रखूँगा।"

मैं बोला : "ऐसा नहीं। मेरी यह प्रतिज्ञा है कि यदि मैं जिन्दा रहूँ और ईश्वर को मंजूर हो, तो सबसे पहले मैं ही परवाना लूँगा। इसलिए मेरा आग्रह है कि आप क़ागज़ात ले आइये।"

इस पर श्री चमनी क़ागज़ात लाने के लिए ओफिस गये।

मेरा दूसरा काम एटर्नी-जनरल अर्थात् सरकारी वकील को यह तार करना था कि 'मीर आलम और उसके साथियों ने मुझ पर जो हमला किया, उसके लिए मैं उन लोगों को दोषी मानता ही नहीं। जो भी हो, लेकिन मैं नहीं चाहता कि उन पर फ़ौजदारी मुक़द्दमा चले। मैं आशा करता हूं कि मेरे खातिर आप उन्हें छोड़ देंगे ।"

लेकिन जोहानिसबर्ग के गोरों ने एटर्नी-जनरल को इस आशय का एक कड़ा पत्र लिखा : "अपराधी को सज़ा देने के बारे में गांधी के चाहे जो विचार हों, लेकिन इस देश में उन पर अमल नहीं किया जा सकता। गांधी को जो मार पड़ी है उसके बारे में वे भले ही कुछ न करें, लेकिन हमला करने वाले लोगों ने यह मार उन्हें किसी निजी मकान में नहीं मारी है। यह अपराध पठानों ने आम रास्ते पर किया है। इसलिए यह एक सार्वजनिक अपराध माना जाएगा। कुछ अंग्रेज़ भी

इस अपराध की गवाही देने की स्थिति में हैं। अपराधियों को पकड़ना हीं चाहिए।" इस आन्दोलन के कारण एटर्नी-जनरल ने फिर मीर आलम और उसके एक साथी को गिरफ़्तार कर लिया और उन्हें तीन-तीन महीने की कड़ी क़ैद की सज़ा दी। केवल मुझे गवाह के रूप में नहीं बुलाया गया।

कौम के प्रति, प्रमुख के द्वारा मैंने एक संक्षिप्त गुजराती में पत्र लिखा और प्रकाशित करने हेतु भेज दिया।

"मेरी तबीयत अच्छी है । श्री डोक और श्रीमती डोक हृदय का सारा प्रेम उंड़ेल कर मेरी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। मैं कुछ ही दिनों में अपना काम संभाल लूँगा। जिन लोगों ने मुझे मारा है, उन पर मेरे मन में जरा भी गुस्सा नहीं है। उन्होंने बेसमझी से यह काम किया है। उन पर मुक़द्दमा चलाने की कोई ज़रूरत नहीं। अगर दूसरे लोग शांत रहेंगे, तो इस घटना से भी हमें लाभ ही होगा।

"हिन्दुओं को चाहिए कि वे मन में जरा भी रोष न रखें। मैं चाहता हूं कि इस घटना से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच खटास पैदा होने के बदले मिठास पैदा हो। खुदा से – ईश्वर से मैं यही याचना करता हूँ।

"मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह कौम का भला करे, उसे सत्य के मार्ग पर लगाये और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के दिलों को मेरे खून की पट्टी से जोड़ दे।"

श्री चमनी क़ागज़ात लेकर आये। बड़ी कठिनाई से और जैसे-तैसे मैंने अपनी दस अंगुलियों की छाप उन्हें दी। उस समय मैंने उनकी आँखों में आँसू देखे। उनके खिलाफ मुझे अकसर कड़ी बातें लिखनी पड़ती थीं। लेकिन इस घटना से मेरे सामने इस बात का प्रत्यक्ष चित्र खड़ा हुआ कि मौक़ा आने पर मानव का हृदय कितना कोमल बन सकता है।

यह विधि पूरी करने में कुछ मिनट से ज़्यादा समय नहीं लगा होगा। श्री डोक और उनकी भली पत्नी मुझे पूर्ण शांत और स्वस्थ देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। हमले से घायल होने के बाद मेरे मानसिक कार्य को देखकर दोनों को दुःख होता था॥ उन्हें भय था कि इसका बुरा असर कहीं मेरी तबीयत पर न पड़े। इसलिए संकेत देकर और दूसरी तरकीबें काम में लेकर वे सब लोगों को मेरे पलंग से दूर हटा ले गये और मुझे लिखने की या और कुछ करने की मनाही कर दी। मैंने

उनसे विनती की (और लिख कर की) कि मैं बिलकुल शांति से सो जाऊँ इससे पहले, और इसके लिए, उनकी लड़की ओलिव – जो उस समय छोटी बालिका ही थी –मुझे अपना प्रिय अंग्रेज़ी भजन 'लोर्ड काइंड्ली लाइट' (प्रेमल ज्योति तारो दाखवी, मुझ जीवनपंथ उजाढ) गाकर सुनाये। श्री डोक को मेरी यह विनती बहुत पसंद आई। वह बात अपने मधुर हास्य द्वारा उन्होंने मुझे समझा दी और ओलिव को इशारे से बुला कर दरवाज़े के बाहर खड़े-खड़े धीमे स्वर में वह भजन गाने के लिए कहा। यह लिखाते समय वह संपूर्ण दृश्य मेरी आँखों के सामने तैर रहा है और ओलिव के दिव्य स्वर की गूँज अभी भी मेरे कानों में गूँज रही है।

५४. लड़ाई की पुनरावृत्ति

हिन्दुस्तानीओंने स्वैच्छिक परवाना निकलवा लिए। अब सरकार को खूनी क़ानून हटा देना चाहिए। लेकिन खूनी क़ानून रद करने के बजाय जनरल स्मट्स ने नया ही क़दम उठाया। उन्होंने विधानसभा में जो नया बिल पेश किया उसके द्वारा खूनी क़ानून को बहाल रखा और स्वेच्छा से लिए गये परवानों को क़ानूनी करार दिया। साथ ही, उस बिल में यह धारा भी जोड़ी कि जिन हिन्दुस्तानियों ने स्वेच्छा से परवाने ले लिए हैं, उन पर खूनी क़ानून लागु नहीं किया जा सकता।

इस नये बिल को पढ़कर मैं तो हक्का-बक्का हो गया।

सरकार को सत्याग्रहियों का 'अल्टिमेटम' अथवा निश्चय-पत्र की भेजने की अवधि पूरी होती थी। अवधि बीतने के दो-एक घंटे बाद परवाने जलाने की सार्वजनिक विधि पूरी करने के लिए एक सभा बुलाई गई थी। सत्याग्रह-समिति ने यह माना था कि आशा के विपरीत कहीं सरकार का अनुकूल उत्तर मिल जाए तो भी सभा बुलाना व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि उस स्थिति में सभा का उपयोग सरकार का अनुकूल निर्णय कौम को सुनाने में कर लिया जाएगा।

सभा शुरू होने ही वाली थी कि एक स्वयंसेवक साइकल पर आ पहुँचा। उसके हाथ में तार था। उसमें सरकार का उत्तर था। उत्तर में हिन्दुस्तानी कौम के निश्चय के लिए खेद प्रकट किया गया था और यह भी कहा गया था कि सरकार अपना निश्चय बदलने में असमर्थ है। तार पढ़कर सभा में सबको सुना दिया गया। सभा ने उसका स्वागत किया, मानो सभा के लोगों को इस बात का हर्ष हुआ कि सरकार द्वारा निश्चय-पत्र की माँग स्वीकार कर लिए जाने से परवानों की होली जलाने का जो शुभ अवसर उनके हाथ से चला जाता वह चला नहीं गया!

इस सभा में मीर आलम भी हाज़िर था। उसने सभा में यह घोषणा की कि मुझ पर हमला करने में उससे भूल हुई थी; और अपना असल परवाना भी उसने मुझे जलाने के लिए दे दिया! नया परवाना तो उसने स्वेच्छा से लिया ही नहीं था। मैंने मीर आलम का हाथ पकड़ा और हर्ष से उसे दबाया। मैंने दुबारा मीर आलम से कहा कि मेरे मन में तो उसके प्रति कभी रोष था ही नहीं। इससे सभा की खुशी का पार न रहा।

कमेटी के पास जलाने के लिए २००० से ऊपर परवाने आ चुके थे। परवानों का ढेर कड़ाही में डाला गया, ऊपर से घासलेट ऊंड़ेला गया और मैंने उसे दियासलाई दिखाई। सारी सभा खड़ी हो गई और जब तक परवाने जलते रहे तब तक उसकी तालियों से मैदान गूँजता रहा। जिन कुछ लोगों ने अभी तक परवाने अपने पास रख छोड़े थे, उनके परवानों की भी अब मंच पर वर्षा होने लगी। वे परवाने भी कड़ाही में डाल दिये गये।

इस सभा में अंग्रेज़ी अखबारों के संवाददाता आये थे। उन पर भी सभा के संपूर्ण दृश्य का बड़ा गहरा असर पड़ा। उन्होंने अपने अखबारों में सभा का हूबहू वर्णन किया।

ट्रान्सवाल विधान-सभा की जिस बैठक में एशियाटिक क़ानून (दूसरा) पास हुआ था, उसी बैठक में जनरल स्मट्स ने एक दूसरा बिल भी पेश किया था। उसका नाम था 'इमिग्रैन्ट्स रेस्ट्रिक्शन एक्ट' (१९०७ का पन्द्रहवाँ एक्ट) – परोक्ष रूप में ऐसी युक्ति निहित थी, जिससे एक भी नया हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल में दाख़िल न हो सके। इसका विरोध करना कौम के लिए नितान्त आवश्यक था। अत : कुछेक सत्याग्रहीओ ने जान बूझकर ट्रान्सवाल में प्रवेश किया; उनको गिरफ़्तार कर लिए गये। मुझे भी दूसरी बार गिरफ़्तार किया गया था। एक बार वोक्सरस्ट की ज़ेल में हम लगभग ७५ सत्याग्रही क़ैदी इकठ्ठे हो गये थे। सरकार सोच में पड़ गई। आख़िर ज़ेल में कितने हिन्दुस्तानियों को क़ैद में रखे जा सकते हैं? खर्च बढ़ेगा, अब क्या किया जाये? सरकार ने परिस्थिति को हल करने के लिए एक नई प्रयुक्ति खोज डाली। पकड़े गये हिंदीओं को सरहद पार करके हिन्दुस्तान भेज देना शुरू कर दिया।

मगर हुआ ऐसा कि बहुत से हिन्दुस्तानी तो अटल रहे और मक्कमतापूर्वक अपनी लड़त जारी रखी थी। थोडे बहुत ढीले पड़ गये थे।

५५. टोल्स्टोय फार्म

आज तक (१९१०) तक ज़ेल जानेवाले सत्याग्रहियों के परिवारों का भरण-पोषण उन्हे हर महीने पैसा देकर होता था। सबको उनकी आवश्यकता के अनुसार पैसा दिया जाता था। चींटी को कन और हाथी को मन। लेकिन यह व्यवस्था संतोष प्रद नहीं थी। कोश पर भारी बोझ आना शुरू हो गया था। यह कठिनाई एक ही तरह से हल हो सकती थी – सारे परिवारों को एक स्थान पर रखा जाय और वहाँ सब साथ मिलकर काम करें।

मेरे मित्र श्री कैलनबैक का परिचय मैं पहले करा चुका हूं। उन्होंने ११०० एकड़ ज़मीन खरीदी और कोई पैसा लिए बिना सत्याग्रहियों के उपयोग के लिए बिना किराये दे दी (३० मई, १९१०)। उस ज़मीन पर करीब १००० फल के झाड़ थे। ज़मीन की ऊँचाई पर एक छोटी सा टीला था। और एक छोटा सा मकान था, जिसमें पांच सात आदमी रह सकते थे। पानी के लिए दो कुएं और एक झरना था। निकटतम रेलवे स्टेशन लोले वहां से एक मील दूर था। जोहानिसबर्ग वहां से २३ मील पर था। इसी ज़मीन पर मकान बनवाने और सत्याग्रहियों के परिवारों को बसाने का हमने निश्चय किया।

इस स्थान में हमने यह आग्रह रखा था कि नौकरों से कोई भी घरेलू काम न कराया जाय; इसलिए पाखाना-सफ़ाई से लेकर रसोई बनाने तक का सारा काम हमें अपने ही हाथों से करना था।

हमने पहले से ही यह निश्चय कर लिया था कि स्त्रियों और पुरुषों को अलग अलग रखा जाय। इसलिए दोनों के मकान अलग और एक-दूसरे से थोड़ी दूरी पर बनाने की बात तय हुई। दस स्त्रियां और साठ पुरुष रह सकें इतने मकान तुरन्त बनाने का निर्णय हुआ। श्री कैलनबैक के रहने का भी एक मकान बनवाया था और उसके पास शाला का एक मकान खड़ा करना था। इसके सिवा, एक कारखाना भी बढ़ई-काम और मोची-काम के लिए बनवाना था।

जो लोग इस स्थान पर रहने आनेवाले थे, वे गुजरात के, मद्रास के, आंध्र देश के और उत्तर भारत के थे। धर्म से वे हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई थे। उनमें लगभग चालीस नौजवान

थे, दो-तीन वयोवृद्ध थे, पांच स्त्रियां थीं और बीस से तीस की संख्या में बालक थे। इन बालकों में चार-पांच लड़कियां थीं।

टोल्स्टोय फार्म में आकर निर्बल लोग बलवान बन गये और परिश्रम सबके लिए शक्तिदायी सिद्ध हुआ।

फार्म के हर निवासी को किसी न किसी काम से जोहानिसबर्ग जाना पड़ता था। बालक वहाँ सैर के लिए जाना चाहते थे। मुझे भी कामकाज के सिलसिले में जोहानिसबर्ग जाना पड़ता था। निर्णय यह किया गया था कि जो फार्म के सामाजिक काम से जाये, उसीको रेल से मुसाफिरी करने की इजाज़त दी जाए और रेल की मुसाफिरी भी तीसरे दर्जे में ही की जाए। और जिसे सैर के लिए जाना हो वह चलकर जाए। उसके साथ खाने के लिए नाश्ता दे दिया जाए। शहर जाकर कोई खाने-पीने में एक पैसा भी खर्च न करे। ऐसे कड़े नियम न बनाये गये होते, तो जो पैसा बचाने के लिए हमने जंगल में रहना पसंद किया था, वह पैसा रेल-किराये में और शहर के बाज़ार में किये जाने वाले नाश्ते में उड़ जाता। घर का बना हुआ नाश्ता भी सादा ही होता था। नाश्ते में घर के पीसे और बिना छने मोटे आटे की ड़ाल-रोटी, उस पर मूंगफली का घर में बनाया हुआ मक्खन और घर में ही बना हुआ नारंगी के छिलकों का मुरब्बा होता था। आटा पीसने के लिए हाथ से चलने वाली लोहे की चक्की खरीदी गई थी। मूंगफली को भून कर पीसने से उसका मक्खन बन जाता था। उसकी कीमत दूध के मक्खन से चौगुनी सस्ती पड़ती थी। नारंगी तो फार्म में ही खूब होती

थी । फार्म में हम गाय का दूध शायद ही कभी लेते थे; सामान्यतः ड़िबे के दूध का ही उपयोग करते थे।

लेकिन हम फिर मुसाफिरी की बात पर आयें। जिन लोगों को जोहानिसबर्ग जाने का शौक होता, वे सप्ताह में एक या दो बार चलकर जाते थे और उसी दिन लोट आते थे। मैं पहले कह चुका हूँ कि यह रास्ता २१ मील का था। पैदल जाने के इस एक नियम से हमारे सैकड़ों रुपये बच गये और चलकर जाने वालों को बड़ा लाभ लाभ हुआ। कुछ लोगों को चलने की नई आदत पड़ी।

सामान्य नियम यह था कि इस तरह जोहानिसबर्ग जाने वाले रात में दो बजे उठ जाएँ और ढाई बजे निकल पड़ें । सब कोई छह से सात घंटों के भीतर जोहानिसबर्ग पहुंच सकते थे। हम से कम समय लेने वाले लोग ४ घंटे और १८ मिनट में पहुँच जाते थे।

हमारा काम सत्याग्रही परिवारों को उद्यमशील रखना, पैसा बचाना और अंत में स्वावलम्बी बनना था। यह ध्येय सिद्ध कर लेने के बाद तो हम चाहे जितनी अवधि तक ट्रान्सवाल सरकार से लड़ सकते थे। जूतों पर हमें पैसे खर्च करने पड़ते थे। काँटों, पत्थरों बगैरा से पैरों को बचाने के लिए किसी रक्षण की आवश्यकता को हमने स्वीकार किया था। इसलिए हमने चप्पल या सैंडल बनाने का धन्धा सीखने का निश्चय किया।

इस तरह अनेक नौजवान चप्पल बनाना सीख गये और हम अपने मित्रों को आश्रम में बने हुए चप्पल बेचने भी लगे। यह कहना तो मेरे लिए ज़रूरी नहीं होना चाहिए कि मेरे अनेक शिष्य इस कला में मुझसे आसानी से आगे बढ़ गये। दूसरा उद्योग हमने सुतारी का शुरू किया। एक गाँव जैसा बसाकर हम वहाँ रहे, इसलिए पाट से लेकर पेटी तक की सारी छोटी-मोटी चीज़ों की हमें ज़रूरत पड़ती थी; हम अपने हाथ से ही बनाते थे।

उपर्युक्त युवकों, बालकों और बालिकाओं के लिए एक शाला का होना अनिवार्य था। यह काम हमें सबसे कठिन लगा और इसमें पूर्णता तो हम अंत तक भी प्राप्त नहीं कर सके। पढ़ाने का खास बोज़ श्री कैलनबैक और मुझ पर था। शाला दोपहर को ही चलाई जा सकती थी। हम दोनों सबेरे के शारीरिक श्रम से खूब थक जाते थे। विद्यार्थी भी सब थके हुए ही रहते थे। इसलिए अकसर विद्यार्थी भी ऊंघने लगते थे और हम शिक्षक भी ऊंघने लगते थे। हम अपनी आँखों पर पानी छिड़कते थे, बालकों के साथ खेल खेलते थे और उनका तथा अपना आलस्य दूर करने का प्रयत्न करते थे। परंतु कभी-कभी हमारा प्रयत्न व्यर्थ जाता था। जितना आराम शरीर के लिए ज़रूरी होता था उतना तो वह लेकर ही रहता था। यह तो मैंने एक और छोटे से छोटे विध्न की बात कही, क्योंकि ऊंघते ऊंघते भी हमारे वर्ग तो चलते ही थे। परन्तु समस्या यह थी कि तामिल, तेलगू और गुजराती तीन भाषाएँ बोलने वाले विद्यार्थियों को क्या और कैसे सिखाया जाय?

मातृभाषा द्वारा बालकों को पढ़ाने का लोभ तो मेरे मन में था ही। तामिल मैं थोड़ी-बहुत जानता था, परन्तु तेलगू का तो एक अक्षर भी नहीं जानता था। ऐसी स्थिति में एक शिक्षक भला क्या कर सकता था?

परन्तु आश्रम में किया हुआ शिक्षा का यह प्रयोग व्यर्थ नहीं गया। इसके फलस्वरूप बालकों में कभी असहिष्णुता की भावना पैदा नहीं हुई। वे एक-दूसरे के धर्म के प्रति और एक-दूसरे के रीत-रिवाजों के प्रति उदारता रखना सीखे। सब कोई सगे भाइयों की तरह रहना सीखे। एक-दूसरे की सेवा करना सीखे। सभ्यता सीखे। उद्यमी बने। और आज भी उन बालकों में से जिन-जिन के कार्यों की थोड़ी भी जानकारी मुझे है, उनके बारे में मैं यह कह सकता हूँ कि टोल्स्टोय फार्म में उन्होंने जो कुछ पाया वह बेकार नहीं गया। भले ही वह प्रयोग अधूरा था, फिर भी वह एक विचारपूर्ण और धार्मिक प्रयोग था। और टोल्स्टोय फार्म के जो अत्यन्त मीठे संस्मरण हैं, उनमें शिक्षण के प्रयोग के संस्मरण कम मीठे नहीं हैं।

फार्म पर आहार तथा दरद की शुश्रुषा संबंध में बहुत से प्रयोग किये गये।

शाकाहारियों के नाते हमें दूध लेने का अधिकार है या नहीं, इस प्रश्न पर मैंने बहुत सोचा था और उसके बारे में खूब पढ़ा भी था। लेकिन फार्म में रहते रहते मेरे हाथ में कोइ पुस्तक या अखबार आया था। उसमें मैंने पढ़ा था कि कलकत्ते में गायों और भैंसों के साथ क्रूर व्यवहार करके दूध की एक एक बूँद उनके थनों से निकाल ली जाती है। उसमें मैंने फूँके की निर्दय और भयंकर क्रिया का भी वर्णन पढ़ा था। उसी दिन मैंने दूध छोड़ दिया।

५६. स्त्रियाँ लड़त में शामित

गौखले २२ अक्तूबर, १९१२ को दक्षिण आफ्रिका पधारे। सत्याग्रहियाँ तथा सरकार के बिच समझौता कराने का आशय था। गोखले को विश्वास हुआ था कि जनरल बोथा अपने वचन के मुताबिक एक साल में ही काला क़ानून रद कर देंगे तथा तीन पाउन्ड का कर भी हटायेंगे। लेकिन जनरल बोथा ने वचनभंग किया।

सरकार के वचन भंग की बात मैंने गोखले को लिखी। उन्हें अतिशय दुःख हुआ। मैंने उन्हें लिखा कि आप सर्वथा निर्भय रहें; हम मरण-पर्यंत लड़ेंगे और तीन पाउँड का कर रद करवायेंगे।

ट्रान्सवाल की सरकार की नामरजी होते हुए भी कर रद करवायेंगे। ज़ेल लंबी अवधि तक चलेगी ऐसा हमलोग मानते थे; अतः टोल्स्टोय फार्म बंद करने का निर्णय किया गया तथा केन्द्र फ़ीनिक्स किया जाए ऐसा निर्णय भी किया गया।

लड़ाई छेड़ने की हमारी तैयारियाँ अभी चल ही रही थीं कि इतने में एक नया विघ्न खड़ा हो गया, जिसकी वजह से स्त्रियों को भी लड़ाई में भाग लेने का अवसर मिल गया। परंतु उस समय विदेश में स्त्रियों को ज़ेल भेजना हम सबको अनुचित लगा।

परंतु इस समय अदालत में एक मुक़द्दमा ऐसा आया कि जिस में सुप्रिम कोर्ट के न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि दक्षिण अफ़्रीका के क़ानून में ईसाई धर्म के अनुसार हुए विवाह के सिवा – विवाह-अधिकारी के ओफिस में रजिस्टर कराये हुए विवाह के सिवा – दूसरे किसी विवाह के लिए स्थान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दू, मुस्लिम, पारसी आदि धर्मों की विधि के अनुसार हुए विवाह न्यायाधीश के उपर्युक्त भयंकर निर्णय से दक्षिण अफ़्रीका में रद माने गये और इसलिए उस क़ानून के अनुसार दक्षिण अफ़्रीका में असंख्य विवाहित हिन्दुस्तानी स्त्रियों का दरजा अपने पतियों की धर्मपत्नी का न रहकर उपपत्नियों का हो गया तथा उन स्त्रियों की सन्तान को अपने पिता की विरासत पाने का भी अधिकार नहीं रह गया। इस स्थिति को न तो स्त्रियाँ सहन कर सकती थीं, न पुरुष सहन कर सकते थे।

स्त्रियाँ का अपमान होने के बाद धैर्य कैसे रखा जाता? कम या अधिक जितने भी सत्याग्रही मिलें उन्हीं के साथ हमने तीव्र सत्याग्रह करने का निश्चय किया। अब स्त्रियाँ को लड़ाई में भाग लेने से रोका नहीं जा सकता था। यही नहीं, हमने स्त्रियाँ को लड़ाई में भरती होने का निमंत्रण देने का निश्चय किया। सबसे पहले उन बहनों को निमंत्रण दिया, जो टोल्स्टोय फार्म में रह चुकी थीं। वे तो लड़ाई में शरीक होने के लिए अत्यन्त उत्सुक थीं। मैंने उन्हें सत्याग्रह की लड़ाई में भाग लेने के सारे खतरों से परिचित कराया। मैंने उन्हें समझाया कि लड़ाई में सम्मिलित होने के बाद उनके खाने-पीने, पोशाक, सोने-बैठने सब पर नियंत्रण लग जाएँगे। मैंने उन्हें यह चेतावनी भी दी कि ज़ेल में उन्हें कड़ी मेहनत का काम सौंपा जा सकता है, उनसे कपड़े धुलवाये जा सकते हैं, ज़ेल-अधिकारी उनका अपमान भी कर सकते है। लेकिन वे सब बहनें बहादुर थीं; वे मेरी बताई एक भी बात से भयभीत नहीं हुई। एक तो गर्भवती थी; छह बहनों की गोद में छोटे बच्चे थे। ऐसी बहनों ने भी लड़ाई में भाग लेने का आग्रह किया। इनमें से किसी भी बहन को रोकने की शक्ति मुझमें नहीं थी । इनमें छह बहनें दूध पीते छोटे बच्चों वाली थीं ।

इन बहनों का प्रथम प्रयत्न निष्फल गया। उन्होंने ट्रान्सवाल के वेरीनिजिंग नामक स्थान में बिना परवाने के प्रवेश करके फेरी लगाई, लेकिन पुलिस ने उन्हें पकड़ने से इनकार कर दिया।

जब फ़ीनिक्स का दल ट्रान्सवाल में प्रवेश करे उसी समय वे १६ बहनें – जिन्होंने ट्रान्सवाल में गिरफ़्तार होने का विफल प्रयत्न किया था – नाताल में प्रवेश करने वाली थी। जिस प्रकार नाताल से ट्रान्सवाल में बिना परवाने के प्रवेश करना अपराध था, उसी प्रकार ट्रान्सवाल से नाताल में बिना परवाने के प्रवेश करना भी अपराध था। इस तरह यदि पुलिस गिरफ़्तार करे तो इन बहनों को नाताल में गिरफ़्तार होना था; और यदि न करे तो उन्हें नाताल की कोयले की खदानों के केन्द्र न्यूकैसल तक जाकर उनमें काम करने वाले गिरमिटिया मज़दूरों को खदानें छोड़कर बाहर निकल जाने की बात समझानी थी। यदि मज़दूर इन बहनों की बात मानकर अपना काम छोड़ देते, तो मज़दूरों के साथ उन्हें भी सरकार अवश्य ही गिरफ़्तार करती। और बहनों की गिरफ़्तारी से इन

मज़दूरों का उत्साह अधिक बढ़ने की पूरी संभावना थी। इस तरह की व्यूह-रचना मन में तैयार करके मैंने ट्रान्सवाल की बहनों को अच्छी तरह समझा दी।

इसके बाद मैं फ़ीनिक्स गया। वहाँ रहने वाली बहनों को तथा अन्यों को उठाये गये क़दमों के बारे में होने वाली भयंकरता तथा जो कष्ट उठाने पड़ेंगे इसके बारे में बात बताई। उन्होंने ट्रान्सवाल की बहनों की तरह बीड़ा उठा लिया उसमें कस्तूरबाई भी थीं। और वे ज़ेलयात्रा करने के लिए तैयार हो गई। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि हर तरह का दुःख सहन करके भी वे ज़ेल की सज़ा पूरी करेंगी।

सत्याग्रहियों का यह दल सीमा लांग कर बगैर परवाने के ट्रान्सवाल में प्रवेश हुई। इस दल को गिरफ़्तार कर लिया। उस पर अदालत में मुक़द्दमा चला। हर सत्याग्रही को तीन-तीन महीने की सख्त क़ैद की सज़ा मिली।

जो बहनें ट्रान्सवाल में गिरफ़्तार होने के प्रयत्न में निराश हुई थीं, उन्होंने अब नाताल में प्रवेश किया। उन्हें बगैर परवाने के नाताल में प्रवेश करने के अपराध में पुलिस ने गिरफ़्तार नहीं किया। यह निश्चय किया गया था कि पुलिस यदि उन्हें गिरफ़्तार न करे, तो न्यूकैसल में छावनी डाल कर बहनों ने अपना काम आरंभ कर दिया। उनका प्रभाव बिजली की तरह फेल गया। तीन पौंड के कर की करूण कहानी ने मज़दूरों के हृदय को पिघला दिया। उन्होंने अपना काम छोड़ दिया।

अब सरकार इन बहादुर बहनों को कैसे छोड़ती? उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया प्रत्येक को तीन महीने की क़ैद की सज़ा मिली।

स्त्रियाँ की वीरता का वर्णन भला किन शब्दों में किया जाएँ! सभी को नाताल की राजधानी मेरित्सबर्ग के ज़ेल में रखा गया था। वहाँ उन्हें काफ़ी कष्ट दिये गये। उनके भोजन के बारे में जरा भी ध्यान नहीं रखा गया। मेहनत में उन्हें धोबी का काम सोंपा गया। सरकार ने लगभग सज़ा खतम होने तक बाहर से भोजन पहुँचाने पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा रखा था। एक बहन का एक विशेष प्रकार का भोजन करने का व्रत था। बड़ी कठिनाई के बाद ज़ेल-अधिकारियों ने उसे विशेष

भोजन की इजाज़त दी, लेकिन जो भोजन दिया जाता था वह इतना ख़राब होता था कि खाया नहीं जाता था। जैतून के तेल की उस बहन को बड़ी ज़रूरत थी। पहले तो वह नहीं दिया गया; कुछ दिन बाद दिया गया, लेकिन वह पुराना था और उतरा हुआ था। जब उस बहन ने अपने पैसे से यह तेल मंगाने की प्रार्थना की, तो उत्तर में कहा गया : "यह कोई होटल नहीं है। जो भोजन दिया जाए वही तुम्हें खाना होगा।" वह बहन जब ज़ेल से बाहर निकली तब हाड़-पिंजर मात्र रह गई थी। बड़े प्रयत्न से ही वह बची।

दूसरी एक बहन जानलेवा बुखार लेकर ज़ेल से रिहा हुई। उसके इस बुखार ने उसे ज़ेल में रिहा होने के कुछ ही दिन बाद भगवान के पास पहुँचा दिया (२२ फरवरी, १९१४)। उसे मैं कैसे भुला सकता हूँ? उसका नाम वालियाम्मा आर. मुनुस्वामी मुदलियार वह १८ वर्ष की बाला थी। मैं उसे मिलने गया तब वह रोग-शय्या पर पड़ी थी। वह कद में ऊँची थी, इसीलिए उसका लकड़ी जैसा कृश शरीर भयंकर दिखाई देता था।

मैंने पूछा : "वालियाम्मा, ज़ेल जाने का तुम्हें पश्चात्ताप तो नहीं है?"

"पश्चात्ताप क्यों होगा? मुझे फिर से पकड़ा जाए तो मैं फिर ज़ेल जाने को तैयार हूँ।"

"लेकिन इसका परिणाम तुम्हारी मौत में आये तो?" मैंने पूछा।

"भले आये। देश के खातिर मरना कौन पसंद न करेगा?"

हमारी इस बातचीत के बाद कुछ ही दिनों में वालियाम्मा मर गई। परन्तु वह बाला अपना नाम अमर कर गई। इन बहनों का बलिदान विशुद्ध था। शुद्ध हेतु से दिया गया बलिदान सफल होता है। ईश्वर भावना का भूखा है। भक्ति से अर्थात् निःस्वार्थ बुद्धि से अर्पण किया गया पत्र, पुष्प या जल भी ईश्वर प्रेम से स्वीकार करता है और उसका करोड गुना फल देता है। सत्याग्रहीओं का इतना समझ लेना ही है कि उसमें से एक भी शुद्ध है, तो उसका यज्ञ फल देने के लिए पर्याप्त है।

पृथ्वी सत्य के बल पर टिकी हुई है - असत् - असत्य - का अर्थ है 'नहीं'; सत्-सत्य-का अर्थ है: 'है'!। असत का जब कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो उसकी सफलता कैसे हो सकती है? और जो 'है' उसका नाश कौन कर सकता है इतने में सत्याग्रह का संपूर्णशास्त्र समा जाता है।

५७. मज़दूरों का प्रवाह

न्यूकैसल के पास की कोयले की खदानों के हिन्दुस्तानी मज़दूरों पर बहनों के इस त्याग का अद्भुत असर पड़ा । उन्होंने अपने औजार छोड़ दिये और उनका प्रवाह शहर की ओर बहने लगा। इसका पता चलते ही मैंने फ़ीनिक्स छोड़ा और मैं न्यूकैसल जा पहुँचा।

ऐसे मज़दूरों के अपने मकान नहीं होते । खदानों के मालिक ही उनके लिए घर बनाते हैं और मालिक ही उनके रास्तों पर बत्तियाँ लगाते हैं। मालिक ही उन्हें पानी भी देते हैं। इसलिए मज़दूर हर तरह से मालिकों के अधीन रहते हैं।

ये हड़ताली मेरे पास तरह-तरह की शिकायतें लाने लगे। कोई कहते कि मालिक रास्तों की बत्तियाँ बंद कर देते है; कोई कहते कि मालिक हमारा पानी बंद कर देते हैं । तीसरे कहते कि मालिक हड़तालियों को गृहस्थी का सामान कोठरियों से बाहर फेंक देते हैं। मेंने सुझाव दिया, एक मात्र मार्ग यही रह जाता था कि मज़दूर मालिकों की कोठरियाँ छोड़ दें – अर्थात् वे 'हिजरत' करें।

मज़दूर कोई पाँच-पचीस नहीं थे, बल्कि सैकड़ों थे; और उनके हज़ारों होने में भी कोई देर नहीं लगती। उन सबके लिए मकान मैं कहाँ से लाऊँ? खाना कहाँ से लाऊँ? लोगों की भारी भीड़ जम गई। इतने अधिक और निरन्तर बढ़ते रहने वाले मज़दूरों को एक ही स्थान पर बगैर काम-धन्धे के रखना यदि असंभव नहीं तो भयंकर काम अवश्य था। मुझे अपनी समस्या का हल मिल गया इस समूह को मुझे ट्रान्सवाल ले लाना चाहिए और जिस प्रकार फ़ीनिक्स के १६ सत्याग्रही गिरफ़्तार हो गये उसी प्रकार इस समूह को भी ज़ेल में बैठा देना चाहिए ।

मेरे पास लगभग पाँच हज़ार आदमी एकत्र हो गये थे । इतने लोगों को ट्रेन से ले जाना संभव नहीं था । इतने पैसे मैं कहां से लाता? और ट्रेन से ले जाने में उन सबकी परीक्षा नहीं हो सकती थी। न्यूकैसल से ट्रान्सवाल की सीमा ३६ मील दूर थी। नाताल का सरहदी गाँव चार्ल्सटाउन और ट्रान्सवाल का वोक्सरस्ट था। अंत में मैंने पैदल यात्रा करने का निश्चय किया। मज़दूरों के साथ मैंने चर्चा की। उनके साथ उनकी पत्नियाँ और बालक भी थे। कुछ लोगों ने आनाकानी की। लेकिन हृदय को कड़ा बनाने के सिवा मेरे पास दूसरा इलाज ही नहीं था। मैंने उनसे कह दिया कि

जिन्हें वापस खदानों पर जाना हो वे जा सकते हैं। लेकिन कोई वापस जाने को तैयार नहीं थे । जो लोग अपंग थे उन्हें ट्रेन से भेजने का हमने निर्णय किया । बाकी सब लोगों ने पैदल चार्ल्सटाउन जाने की तैयारी बताई। यह मंज़िल दो दिन में तय करनी थी।

एक दिन शाम को मैंने उन लोगों से कह दिया कि कल प्रातःकाल हमें अपना कूच आरम्भ करना है। रास्ते पर चलने के नियम मैंने उनके सामने पढ़ सुनाये। पांच-छह हज़ार आदमियों के समुदाय को सभालना कोई खेल नहीं था। उनकी निश्चित संख्या तो मेरे पास थी ही नहीं। न मेरे पास उनके नाम और पते ही थे। जितने आदमी मेरे साथ रहना चाहते थे उतनों ही से मुझे संतोष था। प्रत्येक हड़ताली को डेढ़ पौंड ड़ाल-रोटी और ढाई तोला शक्कर के सिवा अन्य कोई भोजन देने की शक्ति मुझमें नहीं थी। मैंने उनसे कहा था कि रास्ते में अगर कोई हिन्दुस्तानी व्यापारी कुछ देगा, तो उसे हम स्वीकार करेंगे। लेकिन कुछ नहीं मिला तो सबको ड़ाल-रोटी और शक्कर से ही संतोष करना होगा। बोअर-युद्ध और जूलू-विद्रोह के समय जो अनुभव मुझे प्राप्त हुए थे, वे इस समय मेरे लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हुए। एक शर्त यह भी थी कि साथ में कोई ज़रूरत से ज़्यादा कपड़े न रखें। रास्ते में किसी की कोई चीज़ नहीं ली जा सकती। अधिकारी या कोई अंग्रेज़ रास्ते में मिलें और वे गाली दें अथवा मार मारें, तो वह भी सहन कर लिया जाय। पुलिस गिरफ़्तार करे तो गिरफ़्तार हो जाना चाहिए; मैं गिरफ़्तार हो जाऊँ तो भी कूच उन्हें जारी रखना चाहिए – आदि-आदि बातें मैंने हड़तालियों को समझाई। मेरी गिरफ़्तारी के बाद एक के बाद एक कौन व्यक्ति नेता के रूप में नियुक्त होंगे, उनके नाम भी मैंने सबको बता दिये।

सब लोग मेरी सूचनाओं को समझ गये। हमारा काफ़िला सहीसलामत चार्ल्सटाउन पहुँच गया। चार्ल्सटाउन में हिन्दुस्तानी व्यापारियों ने खूब मदद दी। उन्होंने अपने मकानों का उपयोग हमें करने दिया। मस्जिद के मैदान में खाना बनाने की इजाज़त दी। कूच के समय जो खाना दिया जाता था, वह स्थायी छावनी में नहीं रहता था। इसलिए वहां रसोई बनाने के लिए बरतनों की ज़रुरत पड़ती थी। ये बरतन भी व्यापारी हमें खुशी से देते थे। चावल बगैरा तो मेरे पास बड़ी मात्रा में जमा हो गये थे। उसमें भी व्यापारियों ने अपना हिस्सा दिया था।

चार्ल्सटाउन एक छोटासा गाँव था। उसकी आबादी उस समय मुश्किल से चार-पाँच हज़ार आदमियों की थी। उनमें इन कई हज़ार हड़तालियों का समावेश करना कठिन था। सिर्फ़ स्त्रियाँ और बच्चों को ही हमने मकानों में ठहराया। बाकी के सब लोगों ने मैदान में ही पड़ाव डाला।

मेरे साथी और मैं झाड़ू लगाने, मैला उठाने और ऐसे ही दूसरे कामों में जरा भी नहीं हिचकिचाते थे। इसलिए दूसरे लोग भी बड़े उत्साह से ये काम करते थे। यदि हम ये काम न करते, तो किसे हुक्म देते? यदि सब कोई सरदार बनकर दूसरों को हुक्म दें, तो अंत में कोई काम पूरा ही न हो। परन्तु जहाँ सरदार खुद सेवक बन जाता है वहाँ दूसरे लोग सरदारी का दावा कर ही कैसे सकते हैं?

रसोई बनाने वालों में गुख्य मैं ही था। कभी दाल में पानी ज़्यादा पड़ जाता था, तो कभी कच्ची रह जाती थी, कभी ऐसा भी होता था कि सब्जी कच्ची रह जाती थी। तो कभी चावल कच्चे रह जाते थे। ऐसा भोजन हँसते-हँसते ले लेने वाले मैं ने संसार में विरले ही पाये हैं।

खाना बनाने के बजाय खाना परोसने का काम अधिक कठिन था। और यह काम केवल मेरे ही हाथ में रहता था। कच्चे-पक्के खाने का हिसाब तो मुझे ही लोगों को देना होता था। खाना कम हो और खाने वाले बढ़ जाएँ तब सबको कम खाना देकर सन्तुष्ट करने का काम भी मुझे ही करना होता था। जब मैं बहनों को कम खाना देता तो वे एक क्षण के लिए मेरे सामने उलाहने की नज़र से देखतीं और फिर मेरी स्थिति को समझ कर हँसती-हँसती चल देती थीं। उन दृश्यों को मैं जीवन में कभी भूल नहीं सकूँगा। में उनसे कहता : “क्या करूँ? मैं लाचार हो गया हूँ। मेरे पास बना हुआ खाना कम है और खाने वाले लोग ज़्यादा हैं। इसलिए मुझे सबके हिस्से में जितना आ सकता है उतना ही देना होगा।” इतने से वे स्थिति को समझ लेती थीं और 'संतोषम्' कहकर हँसती हुई चली जाती थीं।

५८. ऐ भव्य कूच

मैंने ट्रान्सवाल सरकार को पत्र लिखा था कि हम ट्रान्सवाल में बसने के उद्देश्य से प्रवेश नहीं करना चाहते। हमारा यह प्रवेश सरकार के वचनभंग के विरुद्ध उठाई जाने वाली हमारी प्रभावशाली आवाज़ है; और हमारे स्वाभिमान के भंग से हमें जो दुःख हो रहा है उसकी शुद्ध निशानी है। यदि आप हमें यहीं – चार्ल्सटाउन में ही – पकड़ लेंगे, तो हम सब निश्चिन्त हो जाएँगे। यदि आप ऐसा न करें और हमारे दल में से कोई छिपे तौर पर ट्रान्सवाल में दाख़िल हो जाए, तो उसके लिए हम जिम्मेदार नहीं रहेगे। हमारी इस लड़ाई में गुप्त कुछ है ही नहीं। किसीको अपना व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं साधना है। हम में से कोई आदमी छिपे तौर पर ट्रान्सवाल में प्रवेश करे, यह हमें पसंद नहीं है। लेकिन जहाँ हज़ारों अपरिचित और अनजाने लोगों से काम लेना है और जहाँ प्रेम के सिवा दूसरा कोई बंधन नहीं है, वहाँ किसी के काम के लिए हम जिम्मेदार नहीं हो सकते । इसके सिवा, आप यह भी जान लें की अगर आप तीन पौंड का कर रद कर देंगे, तो गिरमिटिया मज़दूर फिर से काम पर लग जाएँगे और हड़ताल बंद हो जाएगी। हमारे दूसरे दुःखों को दूर कराने के लिए हम इन मज़दूरों को सत्याग्रह में शरीक नहीं करेंगे।

लेकिन ऐसी स्थिति में सरकार के उत्तर की प्रतीक्षा अधिक दिन तक नहीं की जा सकती थी, अगर पकड़े नहीं जाएँगे तो हमने निश्चय किया कि सरकार गिरफ़्तार न करे, तो तुरन्त चार्ल्सटाउन छोड़कर ट्रान्सवाल में प्रवेश करना चाहिए। अगर सरकार रास्ते में गिरफ़्तार न करे, तो काफ़िले को प्रतिदिन २० से २४ मील की यात्रा आठ दिन तक करनी थी। आठ दिन में हमारा इरादा टोल्स्टॉय फार्म पहुँचने का था। हमने सोचा था कि लड़ाई पूरी होने तक सब सत्याग्रही वहीं रहेंगे और फार्म पर काम करके अपनी जीविका उत्पन्न करेंगे।

काफ़िले के कूच की दूसरी तैयारियाँ भी हमने कीं। चार्ल्सटाउन के भले अंग्रेज़ डोक्टर ब्रिस्को ने हमारे लिए दवाइयों की एक छोटीसी पेटी तैयार कर दी और अपने कुछ ऐसे औज़ार भी दे दिये, जिनका उपयोग मेरे जैसा सामान्य आदमी कर सके।

खुराक में ड़ाल-रोटी और शक्कर के सिवा दूसरा कुछ नहीं था। परन्तु ड़ाल-रोटी आठ दिन के कूच में मुहैया कैसे की जाए? फिर रोटी रोज़ काफ़िले के लोगों में बाँटना ज़रूरी था। इसका एकमात्र उपाय यह था कि हर मंज़िल पर हमें ड़ाल-रोटी पहुँचाने की जिम्मेदारी कोई ले। लेकिन यह काम कौन करे? वोक्सरस्ट (चार्ल्सटाउन के नज़दीक ट्रान्सवाल का सरहदी केन्द्र) चार्ल्सटाउन से लगभग दुगुना बड़ा था। वहाँ गोरे भठियारे की एक बड़ी दुकान थी। उसने प्रत्येक स्थान पर ड़ाल-रोटी पहुँचाने का करार हमारे साथ किया। उसने समय से रेल पर ड़ाल-रोटी भेजी और रेल-कर्मचारियों ने (ये भी गोरे ही थे) ईमानदारी से ड़ाल-रोटी हम तक पहुँचाई। यही नहीं, उन लोगों ने ड़ाल-रोटी हम तक पहुँचाने में पूरी सावधानी बरती और हमारे लिए कुछ खास सुविधायँ कर दीं। वे जानते थे कि हमारी किसीसे दुश्मनी नहीं थी।

जब हमारे कूच की सारी तैयारियाँ हो गई तब मैने फिर एक बार सरकार के साथ समझौते का प्रयत्न किया। पत्र और तार तो मैंने भेजे ही थे। अब मैंने यह निर्णय किया कि सरकार को टेलिफोन भी किया जाए, भले वह मेरा अपमान ही क्यों न करे।

आधे मिनट में मुझे इसका उत्तर मिल गया : “जनरल स्मट्स आपके साथ कोई संबंध नहीं रखना चाहते। आप जो चाहें सो करें।” और टेलिफोन बन्द हो गया।

मैंने इसी उत्तर की आशा राखी थी । केवल अशिष्टता की आशा नहीं रखी थी।

मुझे अपने सामने स्पष्ट दिखाई देता था। दूसरे दिन (६ नवम्बर, १९१३) निश्चित समय पर (प्रातः साढ़े छह बजे) हमने प्रार्थना को और ईश्वर के नाम पर अपना कूच आरंभ किया। हमारे इस काफ़िले में २०३७ पुरुष, १२७ स्त्रियाँ और ५७ बालक थे।

चार्ल्सटाउन से एक मील दूर वोक्सरस्ट का छोटासा नाला पड़ता था। उस नाले को पार किया कि वोक्सरस्ट में या कहिये ट्रान्सवाल में प्रवेश किया ऐसा माना जाता था। उस नाले के छोर पर घुड़सवार पुलिस पहरे पर खड़ी थी। सबसे पहले मैं उसके पास गया। जाते समय काफ़िले के लोगों से कह गया था कि मैं आने का संकेत करूँ तब वे सीमा में प्रवेश करें। लेकिन मैं पुलिस से बात कर ही रहा था कि लोग तेज़ी से आगे बढ़े और उन्होंने नाला पार कर दिया। वे ट्रान्सवाल

की सीमा में पहुँच गये। घुड़सवारों ने उन्हें घेर लिया। परन्तु यह काफ़िला इस तरह पुलिस के रोके रुकने वाला नहीं था। पुलिस का इरादा हमें पकड़ने का तो था ही नहीं। मैंने सब लोगों को शांत किया और कतारों में व्यवस्थित होकर चलने की बात समझाई। पाँच-सात मिनट में ही तब कुछ ठीक हो गया और हमारा कूच ट्रान्सवाल में आरंभ हुआ।

वोक्सरस्ट के लोगों ने दो दिन पहले ही एक सभा की थी और उसमें अनेक तरह की धमकियाँ हमें दी थीं। कुछ लोगों ने कहा था कि यदि हिन्दुस्तानी ट्रान्सवाल में प्रवेश करेंगे, तो हम उन पर गोलियाँ बरसायेंगे। उस सभा में श्री कैलनबैक गोरों को समझाने गये थे। लेकिन कोई उनकी बात सुनने को तैयार नहीं थे।

हमारा जुलूस तो शांति से आगे बढ़ गया। मुझे याद नहीं आता कि किसी गोरे ने मुझे हमारे साथ ज़रा भी शरारत की हो। वे सब यह अनोखा दृश्य देखने के लिए बाहर निकल आये। उनमें से कुछ लोगों की आँखों में मित्रता का भाव भी दिखाई देता था ।

पहले दिन हमारा पड़ाव वोक्सरस्ट से क़रीब आठ मील दूर के एक स्टेशन पासफोर्ड पर था। वहाँ हम शाम के कोई ५-६ बजे पहुँचे होंगे। लोगों ने ड़ाल-रोटी और शक्कर खाई और सब खुली हवा में मैदान में लेट गये। कोई भजन गाते थे, तो कोई बातें करते थे। रास्ते में कुछ स्त्रियाँ थक गई। अपने बच्चों को गोद में लेकर चलने की हिम्मत तो उन्होंने की थी, लेकिन आगे चलना उनकी शक्ति से बाहर था। इसलिए मेरी चेतावनी के अनुसार मैंने उन्हें एक भले हिन्दुस्तानी की दुकान में छोड़ दिया और उससे कहा कि हम टोल्स्टोय फार्म पर पहुँच जाय तो इन बहनों को वहाँ पहुँचा देना और यदि गिरफ़्तार हो जाए तो इन्हें इनके घर भेज देना। हिन्दुस्तानी व्यापारी ने मेरी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली।

रात बढ़ती गई त्यों-त्यों शोरगुल शांत होता गया। मैं भी सोने की वैयारी में ही था कि मुझे किसी के जूतों की खट-खट सुनाई दी। मैंने एक गोरे को हाथ में लालटेन लिए आते देखा। मुझे तैयारी तो कुछ करनी ही नहीं थी। पुलिस-अधिकारी ने मुझसे कहा :

“आपके लिए मेरे पास वारंट है। मुझे आपको गिरफ़्तार करना है।”

"कब? मैंने पूछा।

"इसी समय।" उत्तर मिला।

"आप मुझे कहाँ ले जाएँगे?"

"इस समय तो पास के रेलवे स्टेशन पर; और जब गाड़ी आएगी तब उस पर बैठाकर वॉक्सरस्ट।"

मैं बोला: "तो मैं किसीको जगाये बिना आपके साथ आता हूँ। लेकिन मेरे एक साथी को थोड़ी सूचनायें दे दूँ।"

"जरूर दे दें।"

पास ही सोये हुए पी॰ के॰ नायडू को मैंने जगाया। उन्हें अपनी गिरफ़्तारी की बात बताई और कहा कि सुबह होने से पहले वे लोगों को न जगायें। सबेरा होने पर नियमानुसार कूच करने की सूचना उन्हें कर दी। साथ ही यह भी कहा कि कूच सूर्योदय से पहले आरंभ हो। जहाँ विश्राम करने और खुराक बाँटने का समय हो जाय वहाँ लोगों से मेरी गिरफ़्तारी की बात कही जाए। इस बीच जो कोई पूछे उसे यह बात कहते जाएँ। काफ़िले को पुलिस पकड़े तो वह गिरफ़्तार हो जाय; और न पकड़े तो निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अपना कूच जारी रखे। नायडू को कोई डर तो था ही नहीं। वे गिरफ़्तार कर लिए जाएँ तो क्या किया जाय, यह भी मैंने उनसे कह दिया।

श्री कैलनबैक तो वोक्सरस्ट में मौजूद थे ही।

मैं पुलिस अधिकारी के साथ गया। सबेरा हुआ। हम दोनों वोक्सरस्ट की ट्रेन में बैठे। वोक्सरस्ट की अदालत में मुझ पर मुक़द्दमा चला। पब्लिक प्रोसिक्यूटर ने स्वयं माँग की कि केस मुलतवी रखा जाय, क्योंकि उसके पास सबूत तैयार नहीं था। केस मुलतवी रहा। मैंने जमानत पर छूटने की अरज़ी दी और कारण में बताया कि मेरे साथ १२२ स्त्रियों, ५० बालकों तथा २००० पुरुषों से अधिक लोग हैं। मुक़द्दमे की तारीख लगने तक मैं उन्हें निश्चित स्थान पर रखकर वापिस आ सकता हूँ और मुक़द्दमे के समय हाज़िर हो सकता हूँ। सरकारी वकील ने जमानत की मेरी

अरज़ी का विरोध किया, लेकिन मजिस्ट्रेट लाचार था। मुझ पर जो आरोप लगाया गया था वह ऐसा नहीं था, जिसमें जमानत पर छुटकारा पाने की बात भी मजिस्ट्रेट की सत्ता पर निर्भर हो। इसलिए मजिस्ट्रेट ने मुझे ५० पौंड की जमानत पर छोड़ दिया। श्री कैलनबैक ने मेरे लिए मोटर तैयार ही रखी थी। उसमें बैठाकर उन्होंने मुझे अपने काफ़िले के पास पहुँचा दिया। *दि ट्रान्सवाल लीडर* का विशेष संवाददाता हमारे साथ आना चाहता था। हमने उसे कार में बैठने की इजाज़त दे दी। उसने कार की इस यात्रा का, मेरे मुक़द्दमे का और काफ़िले के साथ हुए मेरे मिलाप का सुन्दर चित्रण अपने अखबार में उस समय किया था। लोगों ने मेरा हार्दिक स्वागत किया। उनके उत्साह और जोश का कोई पार न रहा। इसके बाद कैलनबैक तुरंत वोक्सरस्ट लौट गये। उनके जिम्मे चार्ल्स-टाउन में रुके हुए और नये आने वाले हिन्दुस्तानियों की देखभाल करने का काम था।

हमने अपना कूच जारी रखा। परन्तु मुझे स्वतंत्र रखना सरकार को अनुकूल नहीं लगा। इसलिए उसने दूसरे दिन ८वीं को स्टैन्डरटन में दूसरी बार मुझे गिरफ़्तार कर लिया। स्टैन्डरटन तुलना में बड़ा गाँव था। वहाँ मुझे विचित्र तरीके से पकड़ा गया। मैं काफ़िले के लोगों को ड़ाल-रोटी बाँट रहा था। वहाँ के हिन्दुस्तानी व्यापारियों ने मुरब्बे के ड़िबे भेंट किये थे, इसलिए बँटवारे के काम में ज़्यादा देर लगती थी। मजिस्ट्रेट मेरे पास आकर खड़े हो गये। उन्होंने खुराक बाँटने का काम मुझे पूरा कर लेने दिया। उसके बाद उन्होंने मुझे एक ओर बुलाया। मैं उन्हें पहचानता था। इसलिए मैं समझा कि वे मुझसे कोई बात करना चाहते होंगे। लेकिन उन्होंने हँस कर मुझसे कहा:

"आप मेरे क़ैदी हैं।"

मैने कहा : "मेरा दरजा बढ़ गया है। पुलिस के बदले मजिस्ट्रेट स्वयं पकड़ने आये हैं। लेकिन आप मुझ पर इसी समय मुक़द्दमा चलायेंगे न?"

वे बोले : "मेरे साथ ही आप चलिए। कोर्ट बैठी ही है।"

काफ़िले के लोगों को कूच जारी रखने की सलाह देकर मैं उनसे अलग हुआ। कोर्ट में पहुँचते ही मैंने देखा कि मेरे कुछ साथी भी गिरफ़्तार कर लिए गये हैं। वे पाँच थे।

मुझे तुरन्त कोर्ट के सामने खड़ा किया गया। मैंने वोक्सरस्ट में जमानत पर छूटने के जो कारण बताये थे वे ही कारण यहाँ भी बताते हुए जमानत पर छूटने की अरज़ी दी। यहाँ भी सरकारी वकील ने मेरी अरज़ी का विरोध किया। लेकिन यहाँ भी मजिस्ट्रेट ने २१ नवम्बर, १९१३ तक मुक़द्दमा मुलतवी कर दिया। हिन्दुस्तानी व्यापारियों ने मेरे लिए इक्का तैयार ही रखा था। उसमें बैठाकर मुझे काफ़िले के पास पहुँचा दिया, जो अभी तीन मील का फासला भी तय नहीं कर पाया था। अब काफ़िले के लोगों ने और मैंने भी सोचा कि शायद टोल्स्टोय फार्म तक सब पहुँच जाएँगे। परन्तु हमारी यह धारणा ग़लत निकली। फिर भी काफ़िले के लोग मेरी गिरफ़्तारी के आदी हो गये, यह कोई मामूली परिणाम नहीं था। मेरे साथी तो ज़ेल में ही रहे।

हम कूच करते-करते अब जोहानिसबर्ग के निकट आ पहुँचे थे। संपूर्ण यात्रा को हमने आठ दिन की आठ मंज़िलों में बाँट दिया था। अभी तक हम निश्चित की हुई मंज़िलें पूरी करते चले आ रहे थे। इसलिए अब हमारे सामने कुल चार मंज़िलें तय करना बाकी था। परन्तु ज्यों-ज्यों हमारा उत्साह बढ़ता जा रहा था त्यों-त्यों सरकार की जागृति भी बढ़ती जा रही थी। सरकार हमें अपनी मंजिल पूरी कर लेने देती और उसके बाद हमें पकड़ती, तब तो वह उसकी कमज़ोरी और अकुशलता मानी जाती। इसलिए यदि उसे हमें पकड़ना हो, तो मंज़िल पूरी होने के पहले ही पकड़ना चाहिए।

गोखले ने समुद्री तार द्वारा यह इच्छा प्रकट की थी कि श्री पोलाक हिन्दुस्तान आकर उनकी सहायता करें । इसलिए उन्हें हिन्दुस्तान भेजने की तैयारी चल रही थी । मैंने उन्हें लिख भेजा था कि वे हिन्दुस्तान जा सकते हैं। लेकिन मुझसे मिले बिना और पूरी हिदायतें लिए बिना जाने की उनकी इच्छा नहीं थी। इसलिए हमारे कूच के दौरान ही मुझसे मिल जाने की उन्होंने माँग की। मैंने तार किया कि गिरफ़्तारी का खतरा उठाकर आप आना चाहें तो आ सकते हैं। श्री पोलाक ने गिरफ़्तारी का खतरा उठाकर भी मेरे पास आना पसंद किया।

९वीं के रोज़ स्टेन्डरटन तथा ग्रालिंगस्टेड के बिच टीकवर्थ स्थान पर आकर हमसे मिले। हमारी बातें चल रही थीं; लगभग पूरी होने को आई थीं। उस समय दोपहर के क़रीब ३ बजे होंगे।

हम दोनों काफ़िले के आगे चल रहे थे। दूसरे साथी भी हमारी बातें सुन रहे थे। शाम को श्री पोलाक को डरबन जाने वाली गाड़ी पकड़नी थी। परन्तु जब रामचन्द्रजी जैसे को भी राज-तिलक के ही समय वनवास मिला, तो पोलाक भला किस गिनती में थे? हम बातें कर रहे थे, इतने में एक घोड़ागाड़ी हमारे सामने आकर खड़ी हो गई। उसमें एशियाई विभाग के अधिकारी श्री चमनी और पुलिस का एक अधिकारी था। दोनों नीचे उतरे। मुझे ज़रा दूर ले जाकर उनमें से एक ने कहा : "मैं आपको गिरफ़्तार करता हूँ।" इस प्रकार मैं चार दिनमें तीन बार गिरफ़्तार किया गया।

मैंने पूछा : "काफ़िले का क्या होगा?"

"सब हो जायगा।"

मैं कुछ न बोला। पुलिस अधिकारी ने मुझे केवल अपनी गिरफ़्तारी की ही खबर लोगों को सुनाने दी। मैंने पोलाक से कह दिया कि वे काफ़िले के साथ जाएँ। जब मैं लोगों को शांति रखने आदि की बात समझाने लगा, तो अधिकारी महोदय ने कहा :

"अब आप क़ैदी हैं। आप कोई भाषण नहीं दे सकते।"

मुझे ग्रीलिंग स्टेन्ड और वहाँ से बेलफार होकर हेडलबर्ग के थाने में ले गये। रात मेरी वहीं बीती।

काफ़िले को लेकर पोलाक आगे बढ़े। सब हेडलबर्ग पहुँचे। मेरे साथ आये हुए पूरे काफ़िले को भी गिरफ़्तार करने की व्यवस्था हो चुकी थी।

वहाँ दो स्पेशियल ट्रेनें स्टेशन पर काफ़िले के लोगों को क़ैद करके नाताल पहुँचा देने के लिए खड़ी थीं। लेकिन लोगों ने कुछ जिद पकड़ ली। वे बोले : "गांधी को बुलाइये। वे कहेंगे तो हम गिरफ़्तार हो जाएँगे और ट्रेन में बैठ जाएँगे।" श्री पोलाक और काछलिया सेठ की मदद ली। दोनों बड़ी कठिनाई से काफ़िले को समझा सके। अंत में सब लोग समझ गये और शांति से ट्रेन में बैठ गये।

५९. सत्याग्रह की विजय

दूसरी ओर मुझे फिर कोर्ट में मजिस्ट्रेट के सामने खड़ा किया गया। इस बार डंडी से गिरफ़्तारी का वोरंट निकला था। गिरमिटियाओं को नाताल छोड़ने के लिए लालच देने का आरोप मुझ पर रखा गया।

उसी दिन मुझे ट्रेन से डंडी ले जाया गया।

इधर श्री पोलाक को हेडलबर्ग में गिरफ़्तार नहीं किया गया; बल्कि अधिकारियों ने उनकी मदद के लिए उनका आभार भी माना। लेकिन जब वे चार्ल्सटाउन में ट्रेन के इन्तज़ार में खड़े थे तब पकड़ लिए गये। श्री कैलनबैक भी गिरफ़्तार कर लिए गये। दोनों को वोक्सरस्ट की ज़ेल में रखा गया।

मुझ पर ११ नवम्बर, १९१३ को डंडी में मुक़द्दमा चला और ९ महीने सख्त क़ैद की सज़ा मिली। अभी निषिद्ध लोगों को ट्रान्सवाल के भीतर प्रवेश करने में मदद देने के अभियोग में मुझ पर वोक्सरस्ट में मुक़द्दमा चलना बाकी था। इसलिए डंडी से मुझे १३ नवम्बर को वोक्सरस्ट ले जाया गया। वहाँ मैंने श्री कैलनबैक और श्री पोलाक को देखा। इससे हमें अपार आनंद हुआ। हम लोग कुछेक दिन सुखपूर्वक वोक्सरस्ट की ज़ेल में रहे; परंतु सरकार ने हम तीनों को अलग-अलग ज़ेलों में भेज दिये।

काफ़िले के यात्रियों को सरकार विशेष ट्रेनों में बैठाकर नाताल ले गये। सरकार ने कोयले की खदानों के चारों तरफ तार की जाली बाँध दी और डंडी तथा न्यू केसल की सीमा में बाहरी ज़ेल बना ली। और खदानों के युरोपियन नौकरों को उन ज़ेलों के वार्डर नियुक्त कर दिया। ऐसा करके मज़दूरों ने जिस काम को स्वेच्छा से छोड़ा था वह काम सरकार ने उनसे ज़बरदस्ती करवाया अत : अब मज़दूर संपूर्ण रूप में गुलाम बनकर रह गये।

उन्होंने खदानों में काम करने से साफ़ इनकार कर दिया। इसके फलस्वरूप उन्हें कोड़ो की मार सहनी पड़ी। उन्होंने इन मज़दूरों को लातें मारी, गालियाँ दी और दूसरे भी अनेक अत्याचार

सहन किये। ऐसे अत्याचार के तार हिन्दुस्तान आये। उसका परिणाम यह हुआ कि समूचा हिन्दुस्तान भड़क उठा और दक्षिण अफ़्रीका का प्रश्न हिन्दुस्तान का प्रमुख प्रश्न बन गया।

यही वह अवसर था जब (दिसंबर १९१३) वाइसरोय लोर्ड हार्डिंग ने अपना मद्रास का प्रसिद्ध भाषण किया था, जिसने दक्षिण अफ़्रीका में और इंग्लैण्ड में खलबली मचा दी थी। वाइसरोय दूसरे उपनिवेशों की अथवा ब्रिटिश साम्राज्य के अंगभूत देशों की सार्वजनिक रूप में टीका नहीं कर सकते थे; परन्तु लोर्ड हार्डिंग ने न केवल यूनियन सरकार की कड़ी टीका की, बल्कि दक्षिण अफ़्रीका के सत्याग्रहियों का पूरा बचाव भी किया और उनके द्वारा किये जाने वाले सविनय क़ानून भंग का समर्थन किया। लोर्ड हार्डिंग की इस दृढ़ता का बड़ा अच्छा असर हुआ।

हज़ारों निर्दोष मनुष्यों की ज़ेल में बंद रखने की शक्ति दक्षिण अफ़्रीका की सरकार में नहीं थी। भारत के वाइसरोय भी इस बात को सहन करने वाले नहीं थे। सारी दुनिया देख रही थी कि जनरल स्मट्स अब क्या करते हैं। दक्षिण अफ़्रीका की सरकार ने वही किया जो ऐसे समय सामान्यतः दूसरी सरकारें करती हैं।

प्रजामत से डर कर चलने वाले राज्य एक कमीशन नियुक्त करके ऐसी विषम स्थिति से बाहर निकल जाते हैं। यह कमीशन नाम की जाँच करता है, क्योंकि ऐसे कमीशन की जाँच का परिणाम पहले से ही जाना हुआ रहता है। और कमीशन जो सिफारिशें करता है उन पर अनिवार्य रूप में अमल करने की सामान्य प्रथा होती है। इसलिए ऐसे सिफ़ारिशों का आश्रय लेकर राज्य वही न्याय करते हैं, जिनके लिए वे पहले इनकार कर चुके होते हैं। जनरल स्मट्स के इस कमीशन में तीन सदस्य नियुक्त किये गये थे। स्वयं कमीशन ने सरकार से सिफ़ारिश की थी कि उसका काम सरल बनाने के लिए श्री कैलनबैक को, श्री पोलाक को और मुझे बिना शर्त के छोड़ दिया जाय। सरकार ने उसकी यह सलाह मान ली और हम तीनों को एकसाथ (१८ दिसंबर, १९९३) छोड़ दिया। हमने मुश्किल से दो मास की क़ैद भोगी होगी।

कमीशन में हिन्दीओं की ओर से कोई भी एक प्रतिनिधिरूप आदमी हो यह ज़रूरी मालूम पडा। मैंने जनरल स्मट्स के पत्र इस संबंध में लिखा।

जनरल स्मट्स ने कमीशन के सदस्य बढ़ाने से इनकार कर दिया। हमने ज़ेल जाने की तैयारी करके यह घोषणा कर दी कि १ जनवरी, १९१४ के दिन डरबन से ज़ेल जाने वाले हिन्दुस्तानियों का एक कूच आरंभ होगा।

इसी समय यूनियन रेलवे में गोरे कर्मचारियों की बहुत बड़ी हड़ताल हुई। उस हड़ताल यूनियन सरकार की स्थिति नाजुक हो गई। मुझसे कहा गया कि ऐसे समय मैं हिन्दुस्तानियों का कूच आरंभ कर दूँ। पर मैंने घोषित किया कि मैं हड़ताली गोरों की इस तरह मदद नहीं कर सकता। हमारा उद्देश्य सरकार को परेशान करना नहीं है। हमारी लड़ाई गोरों की लड़ाई से अलग है और भिन्न प्रकार की है। हमें कूच करना भी होगा तो हम दूसरे समय करेंगे, जब रेलवे का उपद्रव शांत हो जाएगा। हमारे इस निश्चय का गहरा प्रभाव हुआ। इसकी सूचना रायटर ने तार से इंग्लैण्ड भेजी। लोर्ड एम्प्टहिल ने हमें इंग्लैण्ड से धन्यवाद का तार भेजा। दक्षिण अफ्रीका के अंग्रेज़ मित्रों ने भी हमें धन्यवाद दिया। जनरल स्मट्स के एक सचिव ने मुझसे विनोद में कहा : "मुझे आपके लोग बिलकुल अच्छे नहीं लगते। मैं उनकी ज़रा भी मदद नहीं करना चाहता। लेकिन हम उनका क्या करें? आप लोग संकट की स्थिति में हमारी सहायता करते हैं। आपको कैसे मारा जाए? मैं तो बहुत बार चाहता हूँ कि आप भी इन अंग्रेज़ हड़तालियों की तरह हुल्लड़ करें। वैसी स्थिति में तो हम तुरन्त आप लोगों को सीधा कर सकते हैं। लेकिन आप तो दुश्मनों को भी दुःखी नहीं करना चाहते। आप स्वयं ही दुःख सहन करके जीतना चाहते हैं। आप शिष्टता की मर्यादा कभी छोड़ते नहीं, इससे हम आपके सामने लाचार हो जाते हैं ।"

इसी प्रकार के उद्गार जनरल स्मट्स ने भी प्रकट किये थे।

हिन्दुस्तानियों के सौजन्य के ऐसे अनेक उदाहरणों का जो अदृश्य प्रभाव चारों ओर पड़ता ही रहता था, उसे मैं देख सकता था। इस प्रभाव के फलस्वरूप हिन्दुस्तानियों की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती रहती थी और समझौते के लिए अनुकूल हवा बनती रहती थी।

कमीशन के काम के संबंध में जनरल स्मट्स के साथ मैंने पत्रव्यवहार किया। प्राथमिक समझौता हुआ । कमीशन ने रिपोर्ट में कौम की जो-जो माँगें थीं उन सबको पूरा करने की

सिफ़ारिश की तथा तुरंत बाद सरकार ने युनियन गज़ेट में हिन्दी को राहत देने वाला क़ानून घोषित कर दिया जिसके अंतर्गत तीन पौंड का कर अवश्य ही रद कर दिया जाना, जो विवाह हिन्दुस्तान में क़ानून माने जातें ये सारे विवाह दक्षिण अफ़्रीका में भी क़ानूनन समझे गये, जिन लोगों को दक्षिण अफ़्रीका में रहने के लिए प्रमाणपत्र मिलते थे उन प्रमाणपत्रों से दक्षिण अफ़्रीका में निवास का अधिकार प्राप्त हो गया।

इस प्रकार आठ वर्ष के अंत में सत्याग्रह की यह महान लड़ाई पूरी हुई और यह माना गया कि संपूर्ण दक्षिण अफ़्रीका में बसे हुए हिन्दुस्तानियों को शान्ति मिली। १८ जुलाई, १९१४ को दुःख और हर्ष के साथ मैं इग्लैण्ड में गोखले से मिलकर वहां से हिन्दुस्तान जाने के लिए दक्षिण अफ़्रीका से रवाना हो गया। जिस दक्षिण अफ़्रीका में मैंने २१ वर्ष निवास किया और असंख्य कड़वे और मीठे अनुभव प्राप्त किये तथा जहाँ मैं अपने जीवन के लक्ष्य को समझ सका, उस देश को छोडना मुझे बहुत कठिन मालूम हुआ।

भाग-९ : विलायत तथा लडाई

६०. लड़ाई में हिस्सा

१९१४ की ४ अगस्त को युद्ध घोषित किया गया। ६ अगस्त को हम विलायत पहुँचे।

मुझे लगा कि विलायत में रहने वाले हिन्दुस्तानियों को लड़ाई में अपना हिस्सा अदा करना चाहिए। अंग्रेज़ विद्यार्थियों ने लड़ाई में सेवा करने का अपना निश्चय घोषित किया था। हिन्दुस्तानी इससे कम नहीं कर सकते थे। इन दलीलों के विरोध में इस सभा में बहुत दलीलें दी गयीं।

जब जनता की माँग को दृढ़ता-पूर्वक प्रकट करना चाहिए और शासन-पद्धति में सुधार करा लेने का आग्रह रखना चाहिए। मैंने अंग्रेज़ों की इस आपत्ति के समय अपनी माँगें पेश करना ठीक न समझा और लड़ाई के समय अधिकारों की माँग को मुलतवी रखने के संयम में सभ्यता और दूरदृष्टि का दर्शन किया। इसलिए मैं अपनी सलाह पर दृढ़ रहा और मैंने लोगों से कहा कि जिन्हें स्वयंसेवकों की भरती में नाम लिखाने हों वे लिखावें। काफ़ी संख्या में नाम लिखाये गये। उनमें लगभग सभी प्रान्तों और सभी धर्मों के लोगों के नाम थे।

मैंने इस विषय में लार्ड क्रू को पत्र लिखा और हिन्दुस्तानियों की माँग को स्वीकार करने के लिए घायल सैनिकों की सेवा की तालीम लेना आवश्यक माना जाय, तो वैसी तालीम लेने की इच्छा और तैयारी प्रकट की। थोड़े विचार-विमर्श के बाद लार्ड क्रू ने हिन्दुस्तानियों की माँग स्वीकार कर ली और संकट के समय में साम्राज्य की सहायता करने की तैयारी दिखाने के लिए आभार प्रदर्शित किया।

युद्ध में सम्मिलित होने का अहिंसा के साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। किन्तु कर्तव्य का बोध हमें दीपक की भाँति स्पष्ट नहीं होता।

मुझे अंग्रेज़ी राज्य के द्वारा अपनी अर्थात् अपने राष्ट्र की स्थिति सुधारनी थी। मैं विलायत में बैठा हुआ अंग्रेज़ों के जंगी बेड़े से सुरक्षित था। उस बल का इस प्रकार उपयोग करके मैं उसमें विद्यमान हिंसा में सीधी तरह साझेदार बनता था। अतएव यदि आख़िरकार मुझे उस राज्य के

साथ व्यवहार बनाये रखना हो, उस राज्य के झंडे के नीचे रहना हो, तो या तो मुझे प्रकट रूप से युद्ध का विरोध करके उसका सत्याग्रह के शास्त्र के अनुसार उस समय तक बहिष्कार करना चाहिए, जब तक उस राज्य की युद्धनीति में परिवर्तन न हो, अथवा उसके जो क़ानून भंग करने योग्य हों उनका सविनय भंग करके ज़ेल की राह पकड़नी चाहिए, अथवा उसके युद्धकार्य में सम्मिलित होकर उसका मुकाबला करने की शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिए। मुझमें ऐसी शक्ति नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्ध में सम्मिलित होने का ही मार्ग बचा था।

मैंने बन्दूकधारी में और उसकी मदद करने वाले में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना। जो मनुष्य लुटेरों की टोली में उनकी आवश्यक सेवा करने, उनका बोझ ढोने, लूट के समय पहरा देने तथा घायल होने पर उनकी सेवा करने में सम्मिलित होता है, वह लूट के संबंध में लुटेरों जितना ही जिम्मेदार है। इस तरह सोचने पर फ़ौज में केवल घायलों की ही सार-सँभाल करने के काम में लगा हुआ व्यक्ति भी युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं हो सकता।

पोलाक का तार मिलने से पहले ही मैंने यह सब सोच लिया था। उनका तार मिलने पर मैंने कुछ मित्रों से उसकी चर्चा की। युद्ध में सम्मिलित होने में मैंने धर्म माना; और आज भी इस प्रश्न पर सोचता हूँ, तो मुझे उपर्युक्त विचारधारा में कोई दोष नज़र नहीं आता। ब्रिटिश साम्राज्य के विषय में उस समय मेरे जो विचार थे, उनके अनुसार मैंने युद्ध-कार्य में हिस्सा लिया था। अतएव मुझे उसका पश्चात्ताप भी नहीं है।

विलायत में इस दरमियान मुझे पसली की वरम की शिकायत हुई। मुझे सलाह मिली कि मैं झाडे के दिनों से पहले ही देश में पहुँच जाऊँ। मैंने इस सलाह का स्वीकार किया। अनेक वर्षों के निवास के उपरान्त स्वदेश गमन से मुझे अत्यंत खुशी हुई।

भाग-१० : देश में और साबरमती आश्रम की स्थापना

६१. पूणे में

मैं बम्बई के बन्दरगाह पर उतरा तभी मुझे पता चला कि उस समय यह परिवार शान्तिनिकेतन में था। इसलिए गोखले से मिलने के बाद मैं वहाँ जाने को अधीर हो गया।

गोखले ने और सोसायटी (भारत-सेवक-समाज) के सदस्यों ने मुझे अपने प्रेम से नहला दिया। जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने सब सदस्यों को पूना बुलाया था। सबके साथ कई विषयों पर मैंने दिल खोलकर बातचीत की। गोखले की तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटी में सम्मिलित हो जाऊँ। मेरी इच्छा तो थी ही। किन्तु सोसायटी के सदस्यों को ऐसा लगा कि सोसायटी के आदर्श और काम करने की रीति मुझसे भिन्न है, इसलिए मुझे सदस्य बनना चाहिए या नहीं इस बारे में उनके मन में शंका थी।

मैंने अपने विचार गोखले को बता दिये थे : "मैं सोसायटी का सदस्य बनूँ चाहे न बनूँ, तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फ़ीनिक्स के साथियों को रखना और खुद वहाँ बैठ जाना है। इस विश्वास के कारण कि गुजराती होने से मेरे पास गुजरात की सेवा के जरिये देश की सेवा करने की पूँजी अधिक होनी चाहिए, मैं गुजरात में ही कहीं स्थिर होना चाहता हूँ।" गोखले को ये विचार पसन्द पड़े थे, इसलिए उन्होंने कहा : "आप अवश्य ऐसा करें। सदस्यों के साथ की बातचीत का जो भी परिणाम आये, पर यह निश्चित है कि आपको आश्रम के लिए पैसा मुझीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।"

मेरा हृदय फूल उठा। मैं यह सोचकर बहुत खुश हुआ कि मुझे पैसा उगाहने के धन्धे से मुक्ति मिल गयी और यह कि अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर परेशानी के समय मुझे रास्ता दिखाने वाला कोई होगा। इस विश्वास के कारण मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे सिर का बड़ा बोझ उतर गया हो।

गोखले ने मुझसे प्रतिज्ञा करवायी है कि मुझे एक वर्ष तक देश में भ्रमण करना है, किसी सार्वजनिक प्रश्न पर अपना विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना है।

६२. तीसरे दर्जे की विडम्बना

दक्षिण अफ़्रीका में सत्याग्रह की लड़ाई के सिलसिले में मैंने अपनी पोशाक जिस हद तक गिरमिटिया मज़दूरों से मिलती-जुलती की जा सकती थी, कर ली थी। विलायत में भी घर में मैं यही पोशाक पहनता था। हिन्दुस्तान आकर मुझे काठियावाड़ी पोशाक पहननी थी। दक्षिण अफ़्रीका में मैंने उसे अपने साथ रखा था। अतएव बम्बई में मैं उसी पोशाक में उतर सका था। इस पोशाक में कुर्ता, अंगरखा, धोती और सफेद साफे का समावेश होता था। ये सब देशी मिल के ही कपड़े के बने हुए थे। बम्बई से काटियावाड़ मुझे तीसरे दर्जे में ही जाना था। उसमें साफा और अंगरखा मुझे झंझट मालूम हुए। अतएव मैंने केवल कुर्ता, धोतती और आठ-दस आने की काश्मीरी टोपी का उपयोग किया। ऐसी पोशाक पहनने वाले की गिनती ग़रीब आदमी में होती थी।

शांतिनिकेतन से वापस लौटते समय हमें तीसरे दर्जे का टिकट लेना था। उसे लेने में परेशानी हुई। जवाब मिला: "तीसरे दर्जे के यात्री को टिकट पहले से नहीं दिया जाता।" मैं स्टेशन-मास्टर से मिलने गया। उनके पास मुझे कौन जाने देता? किसीने दया करके स्टेशन-मास्टर को दिखा दिया। मैं वहाँ पहुँचा। उनसे भी उपर्युक्त उत्तर ही मिला। खिड़की खुलने पर टिकट लेने गया। पर टिकट आसानी से मिलने वाला न था। बलवान यात्री एक के बाद एक घुसते जाते और मुझ-जैसों को पीछे हटाते जाते। आख़िर टिकट मिला।

गाड़ी आयी। उसमें भी जो बलवान थे वे घुस गये। बैठे हुओं और चढ़ने वालों की बीच गाली-गलौज और धक्का-मुक्की शुरू हुई । इसमें हिस्सा लेना मेरे लिए संभव न था। हम तीनों इधर से उधर चक्कर काटते रहे। सब ओर से एक ही जवाब मिलता था : "यहाँ जगह नहीं है।" मैं गार्ड के पास गया। उसने कहा, "जगह मिले तो बैठो, नहीं तो दूसरी ट्रेन में जाना।"

मैंने नम्रता-पूर्वक कहा, "लेकिन मुझे ज़रुरी काम है ।" यह सुनने के लिए गार्ड के पास समय नहीं था। मैं हारा। मगनलाल से कहा, "जहाँ जगह मिले, बैठ जाओ।" पत्नी को लेकर मैं तीसरे दर्जे के टिकट से ड्योढे दर्जे में घुसा। गार्ड ने मुझे उसमें जाते देख लिया था।

आसनसोल स्टेशन पर गार्ड ज़्यादा किराये के पैसे लेने आया। मैंने कहा, "मुझे जगह बताना आपका धर्म था। जगह न मिलने के कारण मैं इसमें बैठा हूँ। आप मुझे तीसरे दर्जे में जगह दिलाइये। मैं उसमें जाने को तैयार हूँ।"

गार्ड साहब बोले, "मुझसे बहस मत कीजिए। मेरे पास जगह नहीं है। पैसे न देने हों, तो गाड़ी से उतरना पड़ेगा।"

मुझे तो किसी भी तरह पूना पहुँचना था। गार्ड से लड़ने की मेरी हिम्मत नहीं थी। मैंने पैसे चुका दिये। उसने ठेठ पूना तक का ड्योढ़ा भाड़ा लिया। यह अन्याय मुझे अखर गया।

सबेरे मुगलसराय स्टेशन आया। मगनलाल ने तीसरे दर्जे में जगह कर ली थी। मुगलसराय में मैं तीसरे दर्जे में गया। टिकट कलेक्टर को मैंने वस्तुस्थिति की जानकारी दी और उससे इस बात का प्रमाण-पत्र माँगा कि मैं तीसरे दर्जे में चला आया हूँ। उसने देने से इनकार किया। मैंने अधिक किराया वापस प्राप्त करने के लिए रेलवे के उच्च अधिकारी को पत्र लिखा।

उनकी ओर से इस आशय का उत्तर मिला : "प्रमाण-पत्र के बिना अति किराया लौटाने का हमारे यहाँ रिवाज नहीं है। पर आपके मामले में हम लौटाये दे रहे हैं। बर्दवान से मुगलसराय तक का ड्योढ़ा किराया वापस नहीं किया जा सकता।"

तीसरे दर्जे की यात्रा में अधिकारियों की मनमानी से उत्पन्न होने वाली विडम्बना तो रहती ही है। पर तीसरे दर्जे में बैठने वाले कई यात्रियों का उजड्डुपन, उनकी गंदगी, उनकी स्वार्थबुद्धि और उनका अज्ञान भी कुछ कम नहीं होता। दुःख तो यह है कि अकसर यात्री यह जानते ही नहीं है कि वे अशिष्टता कर रहे हैं। वे जो करते हैं, वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है । हम सभ्य और पढ़े-लिखे लोगों ने उनकी कभी चिन्ता ही नहीं की ।

पर रेल की भीड़ की तक़लीफ का मुझे लाहौर से दिल्ली के बीच कड़वे से कड़वा अनुभव हुआ। कराची से कलकत्ते मुझे लाहौर के रास्ते जाना था। लाहौर में ट्रेन बदलनी थी। वहाँ की ट्रेन में मेरी कहीं दाल ग़लती नहीं थी। यात्री ज़बरदस्ती अपना रास्ता बना लेते थे। दरवाज़ा बन्द होता, तो खिड़की में से अंदर घुस जाते थे। मुझे कलकत्ते निश्चित तारीख पर पहुँचना था। यह ट्रेन खो

देता तो मैं कलकत्ते पहुँच न पाता। मैं जगह मिलने की आशा छोड़ बैठा था। कोई मुझे अपने ड़िबे में आने न देता था। आख़िर एक मज़दूर ने मुझे जगह ढूँढ़ते देखकर कहा, “मुझे बारह आने दो, तो जगह दिला दूँ।” मैंने कहा, "मुझे जगह दिला दो, तो ज़रूर बारह आने दूँगा।” बेचारा मज़दूर यात्रियों से गिड़गिड़ाकर कह रहा था, पर कोई मुझे लेने को तैयार न होता था। ट्रेन छूटने ही वाली थी कि एक ड़िबे के कुछ यात्रियों ने कहा, “यहाँ जगह नहीं है, लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा।” मज़दूर मेरी ओर देखकर बोला, “क्यों जी?” मैंने 'हाँ' कहा और उसने मुझे उठाकर खिड़की में से अन्दर डाल दिया। मैं अन्दर घुसा और उस मज़दूर ने बारह आने कमा लिए।

मेरी यह रात मुश्किल से बीती। दूसरे यात्री ज्यों-त्यों करके बैठ गये। मैं ऊपरवाली बैठक की जंज़ीर पकड़कर दो घंटे खड़ा ही रहा । इस बीच कुछ यात्री मुझे धमकाते ही रहते थे : “अजी, अब तक क्यों नहीं बैठते हो? मैंने बहुतेरा समझाया कि कहीं ज़गह नहीं है। पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना भी सहन नहीं हो रहा था, यद्यपि वे ऊपर की बैठकों पर आराम से लंबे होकर पड़े थे। बार-बार मुझे परेशान करते थे। वे जितना मुझे परेशान करते थे, उतनी ही शांति से मैं उन्हें जवाब देता था। इससे वे कुछ शांत हुए। मेरा नाम-धाम पूछा। जब मुझे नाम बतलाना पड़ा तब वे शरमाये। मुझसे माफ़ी माँगी और मेरे लिए अपनी बगल में जगह कर दी। 'सब्र का फल मीठा होता है’ कहावत मुझे याद आयी। मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। बैठने के लिए जगह की जब सचमुच ज़रूरत थी तब ईश्वर ने दिला दी।

६३. आश्रम की स्थापना

सन १९१५ के मई महीने की २५ तारीख के दिन सत्याग्रह-आश्रम की स्थापना हुई।

अहमदाबाद पर मेरी नजर टिकी थी। गुजराती होने के कारण मैं मानता था कि गुजराती भाषा द्वारा मैं देश की अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूँगा। यह भी धारणा थी कि चूँकि अहमदाबाद पहले हाथ की बुनाई का केन्द्र था, इसलिए चरखे का काम यहीं अधिक अच्छी तरह हो सकेगा। साथ ही, यह आशा भी थी कि गुजरात का मुख्य नगर होने के कारण यहाँ के धनी लोग धन की अधिक मदद कर सकेंगे।

मकानों की तलाश करते हुए कोचरब में श्री जीवणलाल बारिस्टर का मकान किराये पर लेने का निश्चय हुआ। श्री जीवणलाल मुझे अहमदाबाद में बसाने वालों में अग्रगण्य थे।

तुरन्त ही प्रश्न उठा कि आश्रम का नाम क्या रखा जाय? हमें तो सत्य की पूजा, सत्य की शोध करनी थी, उसी का आग्रह रखना था; और दक्षिण अफ़्रीका में मैंने जिस पद्धति का उपयोग किया था, उसका परिचय भारतवर्ष को कराना था तथा यह देखना था कि उसकी शक्ति कहाँ तक व्यापक हो सकती है। इसलिए मैंने और साथियों ने सत्याग्रह-आश्रम नाम पसन्द किया। इस नाम से सेवा का और सेवा की पद्धति का भाव सहज ही प्रकट होता था।

आश्रम चलाने के लिए नियमावलि की आवश्यकता थी। अतएव मैंने नियमावलि का मसविदा तैयार करके उस पर मित्रों की राय माँगी।

लगभग पचीस स्त्री-पुरुषों से आश्रम का आरंभ हुआ था। सब एक रसोई में भोजन करते थे और इस तरह रहने की कोशिश करते थे मानो एक ही कूटुम्ब के हों।

आश्रम को कायम हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे कि इतने में जैसी कसौटी की मुझे आशा नहीं थी वैसी कसौटी हमारी हुई। भाई अमृतलाल ठक्कर का पत्र मिला : “एक ग़रीब और प्रामाणिक अन्त्यज परिवार है। वह आपके आश्रम में रहना चाहता है। क्या उसे भरती करेंगे?”

उन्होंने उसका स्वागत किया। भाई अमृतलाल ठक्कर को लिखा गया कि यदि वह परिवार आश्रम के नियमों का पालन करने को तैयार हो, तो हम उसे भरती करने के लिए तैयार हैं।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दूध-पीती तथा घुटनों चलती बच्ची लक्ष्मी तीनों आये। दूदाभाई बंबई में शिक्षक का काम करते थे। नियमों का पालन करने को वे तैयार थे। उन्हें आश्रम में रख लिया।

सहायक मित्र-मंडल में खलबली मच गयी। जिस कुएँ में बंगले के मालिक का हिस्सा था, उस कुएँ से पानी भरने में हमें अड़चन होने लगी। चरस वाले पर हमारे पानी के छींटे पड़ जाते, तो वह भ्रष्ट हो जाता। उसने गालियाँ देना और दूदाभाई को सताना शुरू किया । मैंने सबसे कह दिया कि गालियाँ सहते जाओ और दृढ़ता-पूर्वक पानी भरते रहो। हमें चुपचाप गालियाँ सुनते देखकर चरस वाला शरमिन्दा हुआ और उसने गालियाँ देना बन्द कर दिया। पर पैसे की मदद बन्द हो गयी। पैसे की मदद बन्द होने के साथ बहिष्कार की अफ़वाहें मेरे कानों तक आने लगीं। मैंने साथियों से चर्चा करके तय कर रखा था: "यदि हमारा बहिष्कार किया जाय और हमें कहीं से कोई मदद न मिले, तो भी अब हम अहमदाबाद नहीं छोड़ेंगे। अन्त्यजों की बस्ती में जाकर उनके साथ रहेंगे और जो कुछ मिलेगा उससे अथवा मज़दूरी करके अपना निर्वाह करेंगे ।"

आख़िर मगनलाल ने मुझे नोटिस दी : "अगले महीने आश्रम का खर्च चलाने के लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं।" मैंने धीरज से जवाब दिया : "तो हम अन्त्यजों की बस्ती में रहने जाएँगे।"

मुझ पर ऐसा संकट पहली ही बार नहीं आया था। हर बार अंतिम घड़ी में प्रभु ने मदद भेजी है।

मगनलाल के नोटिस देने के बाद तुरन्त ही एक दिन सबेरे किसी लड़के ने आकर खबर दी : "बाहर मोटर खड़ी है और एक सेठ आपको बुला रहे हैं।" मैं मोटर के पास गया। सेठ ने मुझसे पूछा: "मेरी इच्छा आश्रम को कुछ मदद देने की है, आप लेंगे?"

मैंने जवाब दिया: "अगर आप कुछ देंगे, तो मैं ज़रूर लूँगा। मुझे क़बूल करना चाहिए कि इस समय मैं आर्थिक संकट में भी हूँ।"

"मैं कल इसी समय आऊँगा। तब आप आश्रम में होंगे?"

मैंने 'हाँ' कहा और सेठ चले गये। दूसरे दिन नियत समय पर मोटर का भोंपू बोला। लड़कों ने खबर दी। सेठ अन्दर नहीं आये। मैं उनसे मिलने गया। वे मेरे हाथ पर तेरह हज़ार के नोट रखकर बिदा हो गये।

मैंने इस मदद की कभी आशा नहीं रखी थी। मदद देने की यह रीति भी नई देखी। उन्होंने आश्रम में पहले कभी क़दम नहीं रखा था। मुझे याद आता है कि मैं उनसे एक ही बार मिला था। न आश्रम में आना, न कुछ पूछना, बाहर ही बाहर पैसे देकर लौट जाना। ऐसा यह मेरा पहला ही अनुभव था। इस सहायता के कारण अन्त्यजों की बस्ती में जाना रुक गया। मुझे लगभग एक साल का खर्च मिल गया।

पर जिस तरह बाहर खलबली मची, उसी तरह आश्रम में भी मची। यद्यपि दक्षिण अफ़्रीका में मेरे यहाँ अन्त्यज आदि आते, रहते और भोजन करते थे, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अन्त्यज कुटुम्ब का आना मेरी पत्नी को और आश्रम की दूसरी स्त्रियाँ को पसन्द आया। दानीबहन के प्रति घृणा नहीं तो उनकी उदासीनता ऐसी थी, जिसे मेरी अत्यन्त सूक्ष्म आँखें देख लेती थीं और तेज़ कान सुन लेते थे। आर्थिक सहायता के अभाव के डरने मुझे ज़रा भी चिन्तित नहीं किया था। पर यह आन्तरिक क्षोभ कठिन सिद्ध हुआ। दानीबहन साधारण स्त्री थी। दूदाभाई की शिक्षा भी साधारण थी, पर उनकी बुद्धि अच्छी थी। उनका धीरज मुझे पसन्द आया था। उन्हें कभी-कभी गुस्सा आता था, पर कुल मिलाकर उनकी सहन-शक्ति की मुझ पर अच्छी छाप पड़ी थी। मैं दूदाभाई को समझाता था कि वे छोटे-मोटे अपमान पी लिया करें। वे समझ जाते थे और दानीबहन से भी सहन करवाते थे।

इस परिवार को आश्रम में रखकर आश्रम ने बहुतेरे पाठ सीखे हैं और प्रारंभिक काल में ही इस बात के बिलकुल स्पष्ट हो जाने से कि आश्रम में अस्पृश्यता के लिए कोई स्थान नहीं है, आश्रम की मर्यादा निश्चित हो गयी और इस दिशा में उसका काम बहुत सरल हो गया। इसके बावजूद, आश्रम का खर्च, बराबर बढ़ता रहने पर भी, मुख्यतः कट्टर माने जाने वाले हिन्दुओं की

तरफ से ही मिलता रहा है। कदाचित् यह इस बात का स्पष्ट सूचक है कि अस्पृश्यता की जड़ें अच्छी तरह हिल गयी हैं। इसके दूसरे प्रमाण तो अनेकों हैं। परन्तु जहाँ अन्त्यज के साथ रोटी तक का व्यवहार रखा जाता हो, वहाँ भी अपने को सनातनी मानने वाले हिन्दू मदद दें, यह कोई नगण्य प्रमाण नहीं माना जाएगा।

भाग-११ : चंपारन

६४. नील का दाग़

चंपारन जनक राजा की भूमि है। जिस तरह चंपारन में आम के वन हैं, उसी तरह सन १९१७ में वहाँ नील के खेत थे। चंपारन के किसान अपनी ही ज़मीन के ३/२० भाग में नील की खेती उसके असल मालिकों के लिए करने को क़ानून से बँधे हुए थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहा जाता था। बीस कट्ठे का वहाँ एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे ज़मीन में नील बोने की प्रथा को 'तीन कठिया' कहते थे।

राजकुमार शुक्ल नामक चंपारन के एक किसान थे। उन पर दुःख पड़ा था। यह दुःख उन्हें अखरता था। लेकिन अपने इस दुःख के कारण उनमें नील के इस दाग़ को सबके लिए धो डालने की तीव्र लगन पैदा हो गयी थी।

वे तो खुद मुझे चंपारन के किसानों के दुःख बताना चाहते थे। मैंने कहा, "अपने भ्रमण में मैं चंपारन को भी सम्मिलित कर लूँगा और एक-दो दिन वहाँ ही ठहरूँगा।"

उन्होंने कहा : "एक दिन काफ़ी होगा। नज़रों से देखिये तो सही।"

सन १९१७ के आरंभ में कलकत्ते से हम दो व्यक्ति रवाना हुए। दोनों की एकसी जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही लगते थे। कौनसी गाड़ी लेनी थी यह भी मुझे तो पता नहीं था। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ी में ले गये, उस पर हम दोनों सवार हुए। सबेरे पटना उतरे।

मुझे वे राजेन्द्रबाबू के घर ले गये। राजेन्द्रबाबू पुरी अथवा और कहीं गये थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। मेरे साथ खाने की कुछ सामग्री थी। मुझे थोड़ी खजूर की ज़रूरत थी। बेचारे राजकुमार शुक्ल बाज़ार से ले आये।

पर बिहार में तो छुआछूत का बहुत कड़ा रिवाज था। मेरी बालटी के पानी के छींटे नौकर को भ्रष्ट करते थे। नौकर को क्या पता कि मैं किस जाति का हूँ। राजकुमार शुक्ल ने अन्दर के पाखाने का उपयोग करने को कहा। नौकर ने बाहर के पाखाने की ओर इशारा किया। मेरे लिए

इसमें परेशान या गुस्सा होने का कोई कारण न था। इस प्रकार के अनुभव कर-कर के मैं बहुत पक्का

गया था। नौकर तो अपने धर्म का पालन कर रहा था और राजेन्द्रबाबू के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहा था।

मुझे पहली बार मुज़फ्फरपुर जाने का तय हुआ। आचार्य कृपालानी, वे मुज़फ्फरपुर कोलिज में प्रोफेसर थे। इस समय प्रोफेसरी छोड़ चुके थे। मैंने उन्हें तार किया। ट्रेन आधी रात को मुज़फ्फरपुर पहुँचती थी। वे अपने शिष्य-मंडल के साथ स्टेशन पर आये थे।

कृपालानी जी ने बिहार की और उसमें भी तिरहुत विभाग की दीन दशा की बात की और मेरे काम की कठिनाई की कल्पना दी। कृपालानी जी ने बिहार वालों के साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ लिया था। उन्होंने उन लोगों से मेरे काम का ज़िक्र कर रखा था। सबेरे वकीलों का-एक छोटा-सा दल मेरे पास आया।

ब्रजकिशोरबाबू दरभंगा से आये। रोजेन्द्रबाबू पुरी से आये।

इस मण्डल के और मेरे बीच जीवनभर की गाँठ बँध गयी।

ब्रजकिशोरबाबू ने मुझे सारी हकीक़तों की जानकारी दी। वे ग़रीब किसानों के लिए मुक़द्दमे लड़ते थे। ऐसे दो मुक़द्दमे चल रहे थे। इस तरह के मुक़द्दमों की पैरवी करके वे थोड़ा व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे।

मैंने कहा, “इन मुक़द्दमों को पढ़ जाने के बाद मेरी राय तो यह बनी है कि अब हमें ये मुक़द्दमे लड़ना ही बन्द कर देना चाहिए। ऐसे मुक़द्दमों से लाभ बहुत कम होता है । जहाँ रैयत इतनी कुचली गई है, जहाँ सब इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ कचहरियों की मारफ़त थोड़ा ही इलाज हो सकता है । लोगों के लिए सच्ची दवा तो उनके डर को भगाना है। जब तक यह 'तीन कठिया' प्रथा रद न हो, तब तक हम चैन से बैठ ही नहीं सकते। मैं तो दो दिन में जितना देखा जा सके उतना देखने आया हूँ। लेकिन अब देख रहा हूँ कि यह काम तो दो वर्ष भी ले सकता है। इतना

समय भी लगे तो मैं देने को तैयार हूँ। मुझे यह तो सूझ रहा है कि इस काम के लिए कया करना चाहिए। लेकिन इसमें आपकी मदद ज़रूरी है।"

ब्रजकिशोरबाबू को मैंने बहुत ठंडे दिमाग का पाया। उन्होंने शांति से उत्तर दिया : "हमसे जो मदद बनेगी, हम देंगे। लेकिन हमें समझाइये कि आप किस प्रकार की मदद चाहते हैं।"

इस बीतचीत में हमने सारी रात बिता दी। मैंने कहा, "मुझे आपकी वकालत की शक्ति का कम ही उपयोग होगा। आपके समान लोगों से तो मैं लेखक और दुभाषिये का काम लेना चाहूँगा। मैं देखता हूँ कि इसमें ज़ेल भी जाना पड़ सकता है। मैं इसे पसन्द करूँगा कि आप यह जोखिम उठायें। पर आप उसे उठाना न चाहें, तो भले न उठायें। वकालत छोड़कर लेखक बनने और अपने धंधे को अनिश्चित अवधि के लिए बंद करने की माँग करके मैं आप लोगों से कुछ कम नहीं माँग रहा हूँ। यहाँ की हिन्दी बोली समझने में मुझे कठिनाई होती है। कागज़-पत्र सब कैथी में या उर्दू में लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। इनके तरजुमे की मैं आप से आशा रखता हूँ। यह काम पैसे देकर कराना हमारे बस का नहीं है। यह सब सेवाभाव से और बिना पैसे के होना चाहिए।"

ब्रजकिशोरबाबू समझ गये, किन्तु उन्होंने मुझसे और अपने साथियों से जिरह शुरू की।

अन्त में उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया : "हम इतने लोग आप जो काम हमें सौंपेंगे, वह कर देने के लिए तैयार रहेंगे। इनमें से जितनों को आप जिस समय चाहेंगे उतने आपके पास रहेंगे। ज़ेल जाने की बात नई है। उसके लिए हम शक्ति-संचय करने की कोशिश करेंगे।"

६५. अहिंसा देवी का साक्षात्कार?

मुझे तो किसानों की हालत की जाँच करनी थी। नील के मालिकों के विरुद्ध जो शिकायतें थीं, उनमें कितनी सचाई है यह देखना था। इस काम के लिए हज़ारों किसानों से मिलने की ज़रूरत थी। किन्तु उनके संपर्क में आने से पहले मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैं नील के मालिकों की बात सुन लूँ और कमीशनर से मिल लूँ। मैंने दोनों को चिट्ठी लिखी।

मालिकों के मंत्री के साथ मेरी जो मुलाकात हुई, उसमें उसने साफ़ कह दिया कि आपकी गिनती परदेशी में होती है। आपको हमारे और किसानों के बीच दखल नहीं देना चाहिए। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो, तो मुझे लिखकर सूचित कीजिए। मैंने मंत्री से नम्रतापूर्वक कहा कि मैं अपने को परदेशी नहीं मानता और किसान चाहें तो उनकी स्थिति की जाँच करने का मुझे पूरा अधिकार है। मैं कमीशनर साहब से मिला। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू कर दिया और मुझे सलाह दी कि मैं आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ दूँ।

मैंने सारी बातें साथियों को सुनाकर कहा कि संभव है सरकार मुझे जाँच करने से रोके और ज़ेल जाने का समय मेरी अपेक्षा से भी पहले आ जाएँ। अगर गिरफ़्तारी होनी ही है, तो मुझे मोतोहारी में और संभव हो तो बेतिया में गिरफ़्तार होना चाहिए और इसके लिए वहाँ जल्दी से जल्दी पहुँच जाना चाहिए।

चंपारन तिरहुत विभाग का एक जिला है और मोतीहारी उसका मुख्य शहर। बेतिया के आसपास राजकुमार शुक्ल का घर था और उसके आसपास की कोटियों के किसान ज़्यादा-से-ज़्यादा कंगाल थे। राजकुमार शुक्ल को उनकी दशा दिखाने का लोभ था और मुझे अब उसे देखने की इच्छा थी।

अतएव मैं उसी दिन साथियों को लेकर मोतीहारी के लिए रवाना हो गया। मोतीहारी में गोरखबाबू ने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब मुश्किल से उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन सुना कि मोतीहारी से कोई पाँच मील दूर रहने वाले एक किसान पर अत्याचार किया गया है। मैंने निश्चय किया कि धरणीधरप्रसाद वकील को साथ लेकर

मैं दूसरे दिन सवेरे उसे देखने जाऊँगा। सवेरे हाथी पर सवार होकर हम चल पड़े। चंपारन में हाथी का उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरात में बैलगाड़ियों का। आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि इतने में पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट का आदमी आ पहुँचा और मुझसे बोला, "सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब ने आपको सलाम भेजा है।" मैं समझ गया। धरणीधरबाबू से मैंने आगे जाने को कहा। मैं उस जासूस के साथ उसकी भाड़े की गाड़ी में सवार हुआ। उसने मुझे चंपारन छोड़कर चले जाने की नोटिस दी। वह मुझे घर ले गया और मेरी सही माँगी। मैंने जवाब दिया कि मैं चंपारन छोड़ना नहीं चाहता; मुझे तो आगे बढ़ना है और जाँच करनी है। निर्वासन की आज्ञा का अनादर करने के लिए मुझे दूसरे ही दिन कोर्ट में हाज़िर रहने का समन मिला।

मैंने सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे लिखे और ब्रजकिशोरबाबू को सब प्रकार की आवश्यक सूचनायें दीं।

समन की बात एकदम चारों ओर फैल गयी। लोग कहते थे कि उस दिन मोतीहारी में जैसा दृश्य देखा गया वैसा पहले कभी न देखा गया था। गोरखबाबू के घर और दफ़्तर पर लोगों की भीड़ उमड़ पड़ी। सौभाग्य से मैंने अपना सारा काम रात को निबटा लिया था। इसलिए मैं इस भीड़ को सँभाल सका। साथियों का मूल्य मुझे पूरा-पूरा मालूम हुआ। वे लोगों को संयत रखने में जुट गये। कचहरी में जहाँ जाता वहाँ दल के दल लोग मेरे पीछे आते। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिण्टेण्डेण्ट आदि के साथ भी मेरा एक प्रकार का संबंध स्थापित हो गया। सरकारी नोटिसों बगैरा के खिलाफ़ क़ानूनी विरोध करना चाहता, तो मैं कर सकता था। इसके बदले मैंने उनकी सब नोटिसों को स्वीकार कर लिया और अधिकारियों के साथ निजी व्यवहार में मिठास से काम लिया। इससे वे समझ गये कि मुझे उनका विरोध नहीं करना है, बल्कि उनकी आज्ञा का विनय-पूर्वक विरोध करना है। इससे उनमें एक प्रकार की निर्भगता आ गयी। मुझे तंग करने के बदले उन्होंने लोगों को काबू में रखने में मेरी और मेरे साथियों की सहायता का प्रसन्नता-पूर्वक उपयोग किया। किन्तु साथ ही वे समझ गये कि उनकी सत्ता आज से लुप्त हुई। लोग क्षणभर को दण्ड का भय छोड़कर अपने नये मित्र के प्रेम की सत्ता के अधीन हो गये।

याद रहे कि चंपारन में मुझे कोई पहचानता न था। किसान-वर्ग बिलकुल अनपढ़ था। चंपारन गंगा के उस पार ठेठ हिमालय की तराई में नेपाल का समीपवर्ती प्रदेश है, अर्थात् नई दुनिया है। वहाँ न कहीं काँग्रेस का नाम सुनायी देता था, न काँग्रेस के कोई सदस्य दिखायी पड़ते थे। जिन्होंने नाम सुना था वे काँग्रेस का नाम लेने में अथवा उसमें सम्मिलित होने में डरते थे।

अतएव काँग्रेस की ओर से किन्हीं गुप्त या प्रकट दूतों द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं करायी गयी थी। राजकुमार शुक्ल में हज़ारों लोगों में प्रवेश करने की शक्ति नहीं थी। उनके बीच किसीने आज तक राजनीति का काम किया ही नहीं था। चंपारन के बाहर की दुनिया को वे जानते नहीं थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रों-जैसा लगा। अतएव यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि इस कारण मैंने वहाँ ईश्वर का, अहिंसा का और सत्य का साक्षात्कार किया। जब मैं इस साक्षात्कार के अपने अधिकार की जाँच करता हूँ, तो मुझे लोगों के प्रति अपने प्रेम के सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रेम का अर्थ है, प्रेम अथवा अहिंसा के प्रति मेरी अविचल श्रद्धा।

चंपारन का यह दिन मेरे जीवन में कभी न भूलने-जैसा था। मेरे लिए और किसानों के लिए यह एक उत्सव का दिन था। सरकारी क़ानून के अनुसार मुझ पर मुक़द्दमा चलाया जाने वाला था। पर सच पूछा जाय तो मुक़द्दमा सरकार के विरुद्ध था। कमीशनर ने मेरे विरुद्ध जो जाल बिछाया था उसमें उसने सरकार को ही फँसा दिया।

६६. मुक़द्दमा वापस लिया गया

मुक़द्दमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराये हुए थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि किया क्या जाय। सरकारी वकील सुनवाई मुलतवी रखने की माँग कर रहा था। मैं बीच में पड़ा और बिनती की कि सुनवाई मुलतवी रखने की कोई ज़रुरत नहीं है, क्योंकि मुझे चंपारन छोड़ने की नोटिस का अनादर करने का अपराध स्वीकार करना है।

अब मुक़द्दमे की सुनवाई को मुलतवी रखे की ज़रूरत न रही थी, किन्तु चूँकि मजिस्ट्रेट और वकील ने इस परिणाम की आशा नहीं की थी, इसलिए सज़ा सुनाने के लिए अदालत ने केस मुलतवी रखा। मैंने वाइसरोय को सारी स्थिति तार द्वारा सूचित कर दी थी। पटना भी तार भेजा था। भारतभूषण पंडित मालवीयजी आदि को भी वस्तुस्थिति की जानकारी तार से भेज दी थी। सज़ा सुनने के लिए कोर्ट में जाने का समय हुआ, उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेट का हुक्म आया कि गवर्नर साहब की आज्ञा से मुक़द्दमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टर का पत्र मिला कि मुझे जो जाँच करनी हो, मैं करूँ और उसमें अधिकारियों की ओर से जो मदद आवश्यक हो, सो माँग लूँ। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणाम की आशा हम में से किसीने नहीं रखी थी।

मैं कलेक्टर मि. हेकांक से मिला। मुझे वह स्वयं भला और न्याय करने में तत्पर जान पड़ा। उसने कहा कि आपको जो क़ागज़-पत्र या कुछ और देखना हो, सो आप माँग लें और मुझसे जब भी मिलना चाहें, मिल लिया करें।

दूसरी ओर सारे हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का क़ानून के सविनय भंग का पहला स्थानीय पदार्थ-पाठ मिला। अखबारों में इसकी खूब चर्चा हुई और चंपारन को तथा मेरी जाँच को अनपेक्षित रीति से प्रसिद्धि मिल गयी।

स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम बिलकुल बिना पैसे के अपना काम चला सकें। आज तक की प्रथा सार्वजनिक काम के लिए जनता से धन प्राप्त करने की नहीं थी। ब्रजकिशोरबाबू का मण्डल मुख्यतः वकीलों का मण्डल था। अतएव वे ज़रूरत पड़ने पर अपनी जेब से खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रों से भी माँग लेते थे। उनकी भावना यह थी कि जो लोग स्वयं पैसे-टके से सुखी हों, वे

लोगों से द्रव्य की भिक्षा क्यों माँगें? मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारन की रैयत से एक कौड़ी भी न ली जाय। यदि ली जाती तो उसके ग़लत अर्थ लगाये जाते। यह भी निश्चय था कि इस जाँच के लिए हिन्दुस्तान में सार्वजनिक चन्दा न किया जाय। वैसा करने पर यह जाँच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। गरीबी-से, कम-से-कम खर्च करते हुए, लड़ाई चलानी थी, अतएव अधिक द्रव्य की आवश्यकता पड़ने की संभावना न थी। असल में पड़ी भी नहीं। मेरा ख़याल है कि कुल मिलाकर दो या तीन हज़ार से अधिक खर्च नहीं हुआ था। जो द्रव्य इकठ्ठा किया गया था उसमें पाँच सौ या एक हज़ार रुपये बच गये थे, ऐसा मुझे याद है।

किसानों के दल-के-दल अपनी कहानी लिखाने के लिए आने लगे थे। कहानी लिखाने वालों के साथ सेना भी तो रहती ही थी। इससे मकान का अहाता और बगीचा सहज ही भर जाता था।

कहानी लिखने वालों को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। जैसे, हरएक किसान से जिरह की जाय। जिरह में जो उखड़ जाय, उसका बयान न लिया जाय। जिसकी बात मूल में ही बेबुनियाद मालूम हो, उसके बयान न लिखे जाएँ। इस तरह नियमों के पालन से यद्यपि थोड़ा अधिक समय खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे और साबित हो सकने वाले मिलते थे।

इन बयानों के लेते समय खुफ़िया पुलिस का कोई-न-कोई अधिकारी हाज़िर रहता ही था । इन अधिकारियों को आने से रोका जा सकता था । पर हमने शुरू से ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें सिर्फ़ हम आने से नहीं रोकेंगे, बल्कि उनके प्रति विनय का बरताव करेंगे और दे सकने योग्य खबरें भी उन्हें देते रहेंगे।

मैं निलहों को खिझाना नहीं चाहता था, बल्कि मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतने का प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरुद्ध विशेष शिकायतें आतीं, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलने का प्रयत्न भी करता था। निलहों के मण्डल से भी में मिला था और रैयत की शिकायतें उनके सामने रखकर मैंने उनकी बातें भी सुन ली थीं। उनमें से कुछ मेरा तिरस्कार करते थे, कुछ उदासीन रहते थे और कोई कोई मेरे साथ सभ्यता ओर नम्रता का व्यवहार करते थे।

६७. ग्रामप्रवेश

जैसे-जैसे मुझे अनुभव प्राप्त होता गया वैसे-वैसे देखा कि चंपारन में ठीक से काम करना हो, तो गाँवों में शिक्षा का प्रवेश होना चाहिए। लोगों का अज्ञान दयनीय था। गाँवों के बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा माता-पिता दो या तीन पैसे की आमदनी के लिए उनसे सारे दिन नील के खेतों में मज़दूरी करवाते थे। उन दिनों वहाँ पुरुषों की मज़दूरी दस पैसे से अधिक नहीं थी। स्त्रियाँ की छह पैसे और बालकों की तीन पैसे थी। चार आने की मज़दूरी पाने वाला किसान भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियों से सलाह करके पहले तो छह गाँवों में बालकों के लिए पाठशालाएँ खोलने का निश्चय किया। शर्त यह थी कि उन गाँवों के मुखिया मकान और शिक्षक का भोजन व्यय दें; उसके दूसरे खर्च की व्यवस्था हम करें। यहाँ के गाँवों में पैसे की विपुलता नहीं थी, यह अनाज बगैर देने की शक्ति लोगों में थी। उसलिए लोग कच्चा अनाज देने को तैयार हो गये थे।

प्रायः प्रत्येक पाठशाला में एक पुरुष और एक स्त्री की व्यवस्था की गयी थी। उन्हीं के द्वारा दवा और सफ़ाई के काम करने थे। स्त्रियाँ की मारफ़त स्त्री- समाज में प्रवेश करना था। दवा का काम बहुत सरल बना लिया था। अंडी का तेल, कुनैन और एक मरहम — इतनी ही चीज़ें प्रत्येक पाठशाला में रखी जाती थीं। जाँचने पर चीज़ मैली दिखाई दे और कब्ज की शिकायत हो, तो अंडी का तेल पिला देना। बुखार की शिकायत हो, तो अंडी का तेल देने के बाद आने वाले को कुनैन पिला देना। और अगर फोड़े हों तो उन्हें धौकर उन पर मरहम लगा देना। खाने की दवा अथवा मरहम साथ ले जाने के लिए शायद ही दिया जाता था। कहीं कोई खतरनाक या समझ में न आने वाली बीमारी होती, तो वह डो. देव को दिखाने के लिए छोड़ दी जाती। डो. देव अलग-अलग जगहों में नियत समय पर हो आते थे। ऐसी सादी सुविधा का लाभ लोग ठीक मात्रा में उठाने लगे थे। आम तौर से होने वाली बीमारियाँ थोड़ी ही है और उनके लिए बड़े-बड़े विशारदों की आवश्यकता नहीं होती। इसे ध्यान में रखा जाय, तो उपर्युक्त रीति से की गयी व्यवस्था किसीको हास्यजनक प्रतीत नहीं होगी। लोगों को तो नहीं ही हुई।

सफ़ाई का काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करने को तैयार नहीं थे। जो लोग रोज़ खेतों की मज़दूरी करते थे, वे भी अपने हाथ से मैला साफ़ करने के लिए तैयार न थे। डो. देव झट हार मान लेने वाले आदमी न थे। उन्होंने और स्वयंसेवकों ने अपने हाथ से एक गाँव के रास्तों की सफ़ाई की, लोगों के आँगनों से कचरा साफ़ किया, कुओं के आसपास के गड्ढ़े भरे, कीचड़ निकाला और गाँव वालों को स्वयंसेवक देने की बात प्रेमपूर्वक समझाते रहे। कुछ स्थानों में लोगों ने शरम में पड़कर काम करना शुरू किया और कहीं-कहीं तो लोगों ने मेरी मोटर के आने-जाने के लिए अपनी मेहनत से सड़कें भी तैयार कर दीं। ऐसे मीठे अनुभवों के साथ ही लोगों की लापरवाही के कड़वे अनुभव भी होते रहते थे। मुझे याद है कि सफ़ाई की बात सुनकर कुछ जगहों में लोगों ने अपनी नाराज़ी भी प्रकट की थी।

इन अनुभवों में से एक जिसका वर्णन मैंने स्त्रियाँ की कई सभाओं में किया है, यहाँ देना अनुचित न होगा। भीतिहरवा एक छोटा-सा गाँव था। उसके पास उससे भी छोटा एक गाँव था। वहाँ कुछ बहनों के कपड़े बहुत मैले दिखायी दिये। इन बहनों को कपड़े धोने बदलने के बारे में समझाने के लिए मैंने कस्तूरबाई से कहा। उसने उन बहनों से बात की। उनमें से एक बहन कस्तूरबाई को अपनी झोंपड़ी में ले गयी और बोली, "आप देखिये, यहाँ कोई पेटी या अलमारी नहीं है कि जिसमें कपड़े बन्द हों। मेरे पास यही एक साड़ी है, जो मैंने पहन रखी है। इसे मैं कैसे धो सकती हूँ? महात्माजी से कहिये कि वे कपड़े दिलवायें। उस दशा में मैं रोज़ नहाने और कपड़े बदलने को तैयार रहूँगी।" हिन्दुस्तान में ऐसे झोंपड़े अपवादरूप नहीं हैं। असंख्य झोंपड़ों में साज-सामान, संदूक-पेटी, कपड़े-लत्ते, कुछ नहीं होते और असंख्य लोग केवल पहने हुए कपड़ों पर ही अपना निर्वाह करते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी बताने-जैसा है। चंपारन में बाँस या घास की कमी नहीं रहती। लोगों ने भीतिहरवा में पाठशाला का जो छप्पर बनाया था, वह बाँस और घास का था। किसीने उसे रात को जला दिया। सन्देह तो आसपास के निलहों के आदमियों पर हुआ था। फिर से बांस और घास का मकान बनाना मुनासिब मालूम नहीं हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाई के

जिम्मे थी। श्री सोमण ने ईंटों का पक्का मकान बनाने का निश्चय किया और उनके स्वपरिश्रम की छूत दूसरों को लगी, जिससे देखते-देखते ईंटों का मकान बनाकर तैयार हो गया और फिर से मकान के जल जाने का डर न रहा।

इस प्रकार पाठशाला, सफ़ाई और औषधोपचार के कामों से लोगों में स्वयंसेवकों के प्रति विश्वास और आदर की वृद्धि हुई और उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

पर मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस काम को स्थायी रूप देने का मेरा मनोरथ सफ़ल न हो सका। जो स्वयंसेवक मिले थे, वे एक निश्चित अवधि के लिए ही मिले थे। दूसरे नये स्वयंसेवकों के मिलने में कठिनाई हुई और बिहार से इस काम के लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चंपारन का काम पूरा होते-होते एक दूसरा काम, जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतने पर भी छह महीनों तक हुए इस कामने इतनी जड़ पकड़ ली कि एक नहीं तो दूसरे स्वरूप में उसका प्रभाव आज तक बना हुआ है।

६८. नील का दाग़ धुल गया।

जैसे जैसे मेरे पड़ाव पर लोंगो की आमद-रफ़्त बढ़ती गयी वैसे-वैसे निलहों का क्रोध बढ़ता गया, उनकी ओर से मेरी जाँच को बन्द कराने के प्रयत्न बढ़ते गये।

एक दिन मुझे बिहार-सरकार का पत्र मिला। उसका आशय इस प्रकार था : "आपकी जाँच काफ़ी लंबे समय तक चल चुकी है और अब आपको उसे बन्द करके बिहार छोड़ देना चाहिए।" पत्र विनय-पूर्वक लिखा गया था, पर उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा कि जाँच का काम तो अभी देर तक चलेगा और समाप्त होने पर भी जब तक लोगों के दुःख दूर न होंगे, मेरा इरादा बिहार छोड़कर जाने का नहीं है।

मेरी जाँच बन्द कराने के लिए सरकार के पास एक समुचित उपाय यही था कि वह लोगों की शिकायत को सच मानकर उन्हें दूर करे, अथवा शिकायतों को ध्यान में लेकर अपनी जाँच-समिति नियुक्त करे। गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने मुझे बुलाया और कहा कि वे स्वयं एक जाँच-समिति नियुक्त करना चाहते हैं । उन्होंने मुझे उसका सदस्य बनने के लिए आमंत्रित किया। समिति के दूसरे नाम देखने के बाद मैंने साथियों से सलाह की और इस शर्त के साथ सदस्य बनना क़बूल किया कि मुझे अपने साथियों से सलाह-मशविरा करने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए और सरकार को यह समझ लेना चाहिए कि सदस्य बन जाने से मैं किसानों की हिमायत करना छोड़ न दूँगा, तथा जाँच पूरी-पूरी हो जाने पर यदि मुझे संतोष न हुआ, तो किसानों का मार्गदर्शन करने की अपनी स्वतंत्रता को मैं हाथ से जाने न दूँगा।

सर एडवर्ड गेट ने इन शर्तों को उचित मानकर उन्हें मंजूर किया। स्व. सर फ्रेंक स्लाई समिति के अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। जाँच-समिति ने किसानों की सारी शिकायतों को सही ठहराया और निलहे गोरों ने उनसे जो रकम अनुचित रीति से वसूल की थी, उसका कुछ अंश लौटाने और 'तीन कठिया' के क़ानून को रद करने की सिफ़ारिश की।

इस रिपोर्ट के सांगोपांग तैयार होने और अन्त में क़ानून के पास होने में सर एडवर्ड गेट का बहुत बड़ा हाथ था। यदि वे दृढ़ न रहे होते अथवा उन्होंने अपनी कुशलता का पूरा उपयोग न

किया होता, तो जो सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार हो सकी वह न हो पाती और आख़िर में जो क़ानून पास हुआ वह भी न हो पाता। निलहों की सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्ट के पेश हो जाने पर भी उनमें से कुछने बिल का कड़ा विरोध किया था। पर सर एडवर्ड गेट अन्त तक दृढ़ रहे और उन्होंने समिति की सिफ़ारिशों पर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार सौ साल से चले आने वाले 'तीन कठिया' के क़ानून के रद होते ही निलहे गोरों के राज्य का अस्त हुआ, जनता का जो समुदाय बराबर दबा ही रहता था उसे अपनी शक्ति का कुछ भान हुआ और लोगों का यह वहम दूर हुआ कि नील का दाग़ धोये धुल ही नहीं सकता।

भाग-१२ : अहमदाबाद का मज़दूर

६९. मज़दूरों के सम्पर्क में

दूसरी ओर से श्री अनसूयाबाई का पत्र उनके मज़दूर-संघ के बारे में आया था। मज़दूरों की तनख्वाहें कम थीं। तनख्वाह बढ़ाने की उनकी माँग बहुत पुरानी थी। इस मामले में उनकी रहनुमाई करने का उत्साह मुझमें था। लेकिन मुझमें यह क्षमता न थी कि इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतीत होने वाले काम को भी मैं दूर बैठकर कर सकूँ। इसलिए मौका मिलते ही मैं पहले अहमदावाद पहुँचा।

मेरी स्थिति बहुत ही नाजुक थी। मज़दूरों का मामला मुझे मज़बूत मालूम हुआ। श्री अनसूयाबाई को अपने सगे भाई के साथ लड़ना था। मज़दूरों और मालिकों के बीच के इस दारुण युद्ध में श्री अंबालाल साराभाई ने मुख्य रूप से हिस्सा लिया था। मिल-मालिकों के साथ मेरा मीठा संबंध था। उनके विरुद्ध लड़ने का काम विकट था। उनसे चर्चायें करके मैंने प्रार्थना की कि वे मज़दूरों की माँग के संबंध में पंच नियुक्त करें। किन्तु मालिकों ने अपने और मज़दूरों के बीच पंच के हस्तक्षेप की आवश्यकता को स्वीकार न किया।

मैंने मज़दूरों को हड़ताल करने की सलाह दी। यह सलाह देने से पहले मैं मज़दूरों के और मज़दूर-नेताओं के सम्पर्क में अच्छी तरह आया। उन्हें हड़ताल की शर्तें समझायीं :

१. किसी भी दशा में शांति भंग न होने दी जाय।

२. जो मज़दूर काम पर जाना चाहे उसके साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती न की जाय।

३. मज़दूर भिक्षा का अन्न न खायें।

४. हड़ताल कितनी ही लम्बी क्यों न चले, वे दृढ़ रहें और अपने पास पैसा न रहे तो दूसरी मज़दूरी करके खाने योग्य कमा लें।

मज़दूर-नेताओं ने ये शर्तें समझ लीं और स्वीकार कर लीं। मज़दूरों की आम सभा हुई और उसमें उन्होंने निश्चय किया कि जब तक उनकी माँग मंजूर न की जाय अथवा उसकी योग्यता-अयोग्यता की जाँच के लिए पंच की नियुक्ति न हो, तब तक वे काम पर नहीं जाएँगे।

यह हड़ताल इक्कीस दिन तक चली। इस बीच समय-समय पर मैं मालिकों से बातचीत किया करता था और उन्हें इन्साफ़ करने के लिए मनाता था। मुझे यह जवाब मिलता : "हमारी भी तो टेक है न? हम में और हमारे मज़दूरों में बाप-बेटे का सम्बन्ध है। उसके बीच में कोई दखल दे, तो हम कैसे सहन करें? हमारे बीच पंच कैसे?" यह प्रत्युत्तर मुझे मिलता था।

७०. उपवास

मज़दूरों ने शुरू के दो हफ़्तों में खूब हिम्मत दिखायी; शांति भी खूब रखी; प्रतिदिन की सभाओं में वे बड़ी संख्या में हाज़िर भी रहे। प्रतिज्ञा का स्मरण मैं रोज़ उन्हें कराता ही था। वे रोज़ पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर मिटेंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

लेकिन आख़िर वे कमज़ोर पड़ते जान पड़े। और जिस प्रकार कमज़ोर आदमी हिंसक होता है, उसी प्रकार उनमें जो कमज़ोर पड़े वे मिल में जाने वालों का द्वेष करने लगे और मुझे डर मालूम हुआ कि कहीं वे किसी के साथ ज़बरदस्ती न कर बैठें। रोज़ की सभा में लोगों की उपस्थिति कम पड़ने लगी। आने वालों के चेहरों पर उदासीनता छायी रहती थी। मुझे खबर मिली कि मज़दूर डगमगाने लगे हैं। मैं परेशान हुआ। यह सोचने लगा कि ऐसे समय में मेरा धर्म क्या हो सकता है।

सबेरे का समय था। मैं सभा में बैठा था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। किन्तु सभा में ही मेरे मुँह से निकल गया, "यदि मज़दूर फिर से दृढ़ न बनें और फ़ैसला होने तक हड़ताल को चला न सकें, तो मैं तब तक के लिए उपवास करूँगा।"

जो मज़दूर हाज़िर थे, वे सब हक्के-बक्के रह गये। अनसूयाबहन की आँखों से आँसू की धारा बह चली। मज़दूर बोल उठे, "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको उपवास नहीं करना चाहिए। हमें माफ़ कीजिए। हम अपनी प्रतिज्ञा का पालन करेंगे।"

मैंने कहा "आपको उपवास करने की ज़रूरत नहीं है। आपके लिए तो यही बस है कि आप अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें। हमारे पास पैसा नहीं है। हम मज़दूरों को भीख का अन्न खिलाकर हड़ताल चलाना नहीं चाहते । आप कुछ मज़दूरी कीजिए और उससे अपनी रोज़ की रोटी के लायक पैसा कमा लीजिए। ऐसा करेंगे तो फिर हड़ताल कितने ही दिन क्यों न चले, आप निश्चिन्त रह सकेंगे। मेरा उपवास तो अब फैसले से पहले न छूटेगा।"

वल्लभभाई पटेल मज़दूरों के लिए म्युनिसिपैलिटी में काम खोज रहे थे, पर वहाँ कुछ काम मिलने की संभावना न थी। आश्रम की बुनाई-शाला में रेत का भराव करने की ज़रूरत थी।

मगनलाल गांधी ने सुझाया कि इस काम में बहुत से मज़दूर लगाये जा सकते हैं। मज़दूर इसे करने को तैयार हो गये। अनसूयाबहन ने पहली टोकरी उठायी और नदी में से रेत की टोकरियाँ ढोने वाले मज़दूरों की एक कतार खड़ी हो गयी। मज़दूरों में नया बल आ गया। उन्हें पैसे चुकाने वाले चुकाते-चुकाते थक गये।

इस उपवास में एक दोष था। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि मालिकों के साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था। इसलिए उन पर उपवास का प्रभाव पड़े बिना रह ही नहीं सकता था। मैं तो जानता था कि सत्याग्रही के नाते मैं उनके विरुद्ध उपवास कर ही नहीं सकता; उन पर कोई प्रभाव पड़े तो वह मज़दूरों की हड़ताल का ही पड़ना चाहिए। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषों के लिए नहीं था; मज़दूरों के दोष के निमित्त से था। मैं मज़दूरों का प्रतिनिधि था। इसलिए उनके दोष से में दोषित होता था। मालिकों से तो मैं केवल बिनती ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना उन पर ज़्यादती करने के समान था। फिर भी मैं जानता था कि मेरे उपवास का प्रभाव उन पर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। प्रभाव पड़ा भी। किन्तु मैं अपने उपवास को रोक नहीं सकता था। मैंने स्पष्ट देखा कि ऐसा दोषमय उपवास करना मेरा धर्म है।

मैंने मालिकों को समझाया : “मेरे उपवास के कारण आपको अपना मार्ग छोड़ने की तनिक भी ज़रूरत नहीं।” उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी दिये। उन्हें वैसा करने का अधिकार था।

सेठ अंबालाल इस हड़ताल के विरुद्ध दृढ़ रहने वालों में अग्रगण्य थे। उनकी दृढ़ता आश्चर्यजनक थी। उनकी निष्कपटता भी मुझे उतनी ही पसन्द आयी। उनसे लड़ना मुझे प्रिय लगा। उनके जैसे अगुवा जिस विरोधी दल में थे, उस पर उपवास का पड़ने वाला अप्रत्यक्ष प्रभाव मुझे अखरा। फिर, उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सरलादेवी का मेरे प्रति सगी बहन जैसा प्रेम था। मेरे उपवास से उन्हें जो घबराहट होती थी, वह मुझसे देखी नहीं जाती थी।

मेरे पहले उपवास में अनसूयाबहन, दूसरे कई मित्र और मज़दूर साथी बने। उन्हें अधिक उपवास न करने के लिए मैं मुश्किल से समझा सका। इस प्रकार चारों ओर प्रेममय वातावरण बन

गया। मालिक केवल दयावश होकर समझौते का रास्ता खोजने लगे। अनसूयाबहन के यहाँ उनकी चर्चायें चलने लगीं। श्री आनन्दशंकर ध्रुव भी बीच में पड़े। आख़िर वे पंच नियुक्त हुए और हड़ताल टूटी। मुझे केवल तीन उपवास करने पड़े। मालिकों ने मज़दूरों को मिठाई बाँटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ।

भाग-१३ : ख़ेडा सत्याग्रह

७१. खेड़ा में सत्याग्रह

मज़दूरों की हड़ताल समाप्त होने के बाद दम लेने को भी समय न मिला और मुझे खेड़ा जिले के सत्याग्रह का काम हाथ में लेना पड़ा। खेड़ा जिले में अकाल की-सी स्थिति होने के कारण खेड़ा के पाटीदार लोग लगान माफ़ कराने की कोशिश कर रहे थे।

लोगों की माँग इतनी साफ़ और इतनी साधारण थी कि उसके लिए लड़ाई लड़ने की ज़रूरत ही न होनी चाहिए थी। क़ानून यह था कि अगर फ़सल चार ही आना या उससे कम आवे, तो उस साल का लगान माफ़ किया जाना चाहिए। पर सरकारी अधिकारियों का अंदाज़ चार आने से अधिक था। लोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि उपज चार आने से कम कूती जानी चाहिए, पर सरकार क्यों मानने लगी? लोगों की ओर से पंच बैठाने की माँग की गयी। सरकार को वह असह्य मालूम हुई। जितना अनुनय-विनय हो सकता था, सो सब कर चुकने के बाद और साथियों से परामर्श करने के पश्चात् मैंने सत्याग्रह करने की सलाह दी।

साथियों में खेड़ा जिले के सेवकों के अतिरिक्त मुख्यतः श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई आदि थे। श्री वल्लभभाई अपनी बड़ी और बढ़ती हुई वकालत की बलि देकर आये थे। ऐसा कहा जा सकता है कि इसके बाद वे निश्चिन्त होकर वकालत कर ही न सके।

हम नड़ियाद के अनाथाश्रम में ठहरे थे। अनाथाश्रम में ठहरने को कोई विशेषता न समझे। नड़ियाद में उसके जैसा कोई स्वतंत्र मकान नहीं था, जिसमें इतने सारे लोग समा सकें। अन्त में नीचे लिखी प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर लिए गये :

“हम जानते हैं कि हमारे गाँवों की फ़सल चार आने से कम हुई है। इस कारण हमने सरकार से प्रार्थना की कि वह लगान-वसूली का काम अगले वर्ष तक मुलतवी रखे। फिर भी वह मुलतवी नहीं किया गया। अतएव हम नीचे सही करने वाले लोग यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस साल का

पूरा या बाकी रहा सरकारी लगान नहीं देंगे। पर उसे वसूल करने के लिए सरकार जो भी क़ानूनी कार्रवाई करना चाहेगी, हम करने देंगे और उससे होने वाले दुःख सहन करेंगे यदि हमारी ज़मीन खालसा की गयी, तो हम उसे खालसा भी होने देंगे। पर अपने हाथों पैसे जमा करके हम झूठे नहीं ठहरेंगे और स्वाभिमान नहीं खोएँगे । अगर सरकार बाकी बची हुई सब जगहों में दूसरी किस्त की वसूली मुलतवी रखे, तो हम में से जो लोग जमा करा सकते हैं वे पूरा अथवा बाकी रहा हुआ लगान जमा कराने को तैयार हैं। हम में से जो जमा करा सकते हैं, उनके लगान जमा न कराने का कारण यह है कि अगर समर्थ लोग जमा करा दें, तो असमर्थ लोग घबराहट में पड़कर अपनी कोई भी चीज़ बेचकर या कर्ज़ करके लगान जमा करा देंगे और दुःख उठाएँगे। हमारी यह मान्यता है कि ऐसी स्थिति में ग़रीबों की रक्षा करना समर्थ लोगों का कर्तव्य है।"

इस लड़ाई के लिए मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। अतएव अनेक मीठे स्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाई का गहरा अध्ययन करना चाहें, उन्हें श्री शंकलाल परीख द्वारा लिखित खेड़ा की लड़ाई का विस्तृत प्रामाणिक इतिहास पढ़ जाने की मैं सिफ़ारिश करता हूँ।

७२. 'प्याज़चोर'

गुजरातियों को इस नई वस्तु में विशेष रस आने लगा था। वे पैसा लुटाने को जैयार थे। सत्याग्रह की लड़ाई पैसे से नहीं चल सकती, उसे पैसे की कम-से-कम आवश्यकता रहती है, यह बात जल्दी उनकी समझ में नहीं आ रही थी। मना करने पर भी बम्बई के सेठों ने आवश्यकता से अधिक पैसे दिये थे और लड़ाई के अन्त में उसमें से कुछ रकम बच गयी थी।

सरकारी अधिकारी जनता के मालिक नहीं, बल्कि नौकर हैं; जनता के पैसे से उन्हें तनख्वाह मिलती है – यह सब समझाकर उनका भय दूर करने का काम मुख्य था। और निर्भय होने पर भी विनय के पालन का उपाय बताना और उसे गले उतारना लगभग असंभव-सा प्रतीत होता था। अधिकारियों का डर छोड़ने के बाद उनके द्वारा किये गये अपमानों का बदला चुकाने की इच्छा किसे नहीं होती! फिर भी यदि सत्याग्रही अविनयी बनता है, तो वह दूध में ज़हर मिलने के समान है। पाटीदार विनय का पाठ पूरी तरह पढ़ नहीं पाये, इसे मैं बाद में अधिक समझ सका। अनुभव से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि विनय सत्याग्रह का कठिन-से-कठिन अंश है। यहाँ विनय का अर्थ केवल सम्मान-पूर्वक वचन कहना ही नहीं है। विनय से तात्पर्य है, विरोधी के प्रति भी मन में आदर, सरल भाव, उसके हित की इच्छा और तदनुसार व्यवहार।

शुरू के दिनों में लोगों में खूब हिम्मत दिखायी देती थी। शुरू शुरू में सरकारी कार्रवाई भी कुछ ढीली ही थी। लेकिन जैसे-जैसे लोगों की दृढ़ता बढ़ती मालूम हुई, वैसे-वैसे सरकार को भी अधिक उग्र कार्रवाई करने की इच्छा हुई। कुर्की करने वालों ने लोगों के पशु बेच डाले, घर में से जो चाहा सो माल उठाकर ले गये। चौथाई जुर्माने की नोटिसें निकलीं। किसी-किसी गाँव की सारी फ़सल ज़ब्त कर ली गयी। लोगों में घबराहट फैली। कुछने लगान जमा करा दिया। दूसरे मन-ही-मन यह चाहने लगे कि सरकारी अधिकारी उनका सामान ज़ब्त करके लगान वसूल कर लें तो भर पाये। कुछ लोग मर-मिटने वाले भी निकले।

इसी बीच शंकरलाल परीख की ज़मीन का लगान उनकी ज़मीन पर रहने वाले आदमी ने जमा करा दिया। इससे हाहाकार मच गया। शंकरलाल परीख ने वह ज़मीन जनता को देकर अपने

आदमी से हुई भूल का प्रायश्चित्त किया। इससे उनकी प्रतिष्ठा की रक्षा हुई और दूसरों के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया।

भयभीत लोगों को प्रोत्साहित करने के लिए मोहनलाल पंड्या के नेतृत्व में मैंने एक ऐसे खेत में खड़ी प्याज की तैयार फ़सल को उतार लेने की सलाह दी, जो अनुचित रीति से ज़ब्त किया गया था। मेरी दृष्टि में इससे क़ानून का भंग नहीं होता था। लेकिन अगर क़ानून टूटता हो, तो भी मैंने यह सुझाया कि मामूली-से लगान के लिए समूची तैयार फ़सल को ज़ब्त करना क़ानूनन् ठीक होते हुए भी नीति के विरुद्ध है और स्पष्ट लूट है, अतएव इस प्रकार की ज़ब्ती का अनादर करना हमारा धर्म है। लोगों को स्पष्ट रूप से समझा दिया था कि ऐसा करने में ज़ेल जाने और जुर्माना होने का खतरा है। मोहनलाल पंड्या तो यही चाहते थे। सत्याग्रह के अनुरूप किसी रीति से किसी सत्याग्रही के ज़ेल गये बिना खेड़ा की लड़ाई समाप्त हो जाय, यह चीज़ उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी। उन्होंने इस खेत का प्याज खुदवाने का बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियों ने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहती? मोहनलाल और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगों का उत्साह बढ़ गया। जहाँ लोग ज़ेल इत्यादि के विषय में निर्भय बन जाते हैं, वहाँ राजदण्ड लोगों को दबाने के बदले उनमें शूरवीरता उत्पन्न करता है। अदालत में लोगों के दल-के-दल मुक़द्दमा देखने को उमड़ पड़े। मोहनलाल पंड्या को और उनके साथियों को थोड़े-थोड़े दिनों की क़ैद की सज़ा दी गयी। मैं मानता हूँ कि अदालत का फ़ैसला ग़लत था। प्याज उखाड़ने का काम चोरी की क़ानूनी व्याख्या की सीमा में नहीं आता था। पर अपील करने की किसी की वृत्ति ही न थी।

ज़ेल जाने वालों को पहुँचाने के लिए एक जुलूस उनके साथ हो गया, और उस दिन से मोहनलाल पंड्या को लोगों की ओर से 'प्याजचोर' की सम्मानित पदवी प्राप्त हुई, जिसका उपभोग वे आज तक कर रहे हैं।

७३. खेड़ा की लड़ाई का अन्त

यह तो साफ़ था कि लोग थक चुके थे। जो दृढ़ रहे थे उन्हें पूरी तरह बरबाद होने देने में संकोच हो रहा था। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रही के अनुरूप इसकी समाप्ति का कोई शोभास्पद मार्ग निकल आये, तो उसे अपनाना ठीक होगा। ऐसा एक अनसोचा उपाय सामने आ गया। नड़ियाद तालुका के तहसीलदार ने संदेशा भेजा कि अगर अच्छी स्थिति वाले पाटीदार लगान अदा कर दें, तो ग़रीबों का लगान मुलतवी रहेगा। इस विषय में मैंने लिखित स्वीकृति माँगी और वह मिल गयी। तहसीलदार अपनी तहसील की ही जिम्मेदारी ले सकता था। सारे जिले की जिम्मेदारी तो कलेक्टर ही ले सकता था। इसलिए मैंने कलेक्टर से पूछा। उनका जवाब मिला कि तहसीलदार ने जो कहा है उसके अनुसार तो हुक्म निकल ही चुका है। मुझे इसका पता नहीं था। लेकिन यदि ऐसा हुक्म निकल चुका हो, तो माना जा सकता है कि लोगों की प्रतिज्ञा का पालन हुआ। प्रतिज्ञा में यही वस्तु थी, अतएव इस हुक्म से हमने संतोष माना।

फिर भी इस प्रकार की समाप्ति से हम प्रसन्न न हो सके। सत्याग्रह की लड़ाई के पीछे जो एक मिठास होती है, वह इसमें नहीं थी। कलेक्टर मानता था कि उसने कुछ किया ही नहीं । ग़रीब लोगों को छोड़ने की बात कही जाती थी, किन्तु वे शायद ही छूट पाये। जनता यह कहने का अधिकार आजमा न सकी कि ग़रीब में किसकी गिनती की जाय। मुझे इस बात का दुःख था कि जनता में इस प्रकार की शक्ति रह नहीं गयी थी। अतएव लड़ाई की समाप्ति का उत्सव तो मनाया गया, पर इस दृष्टि से मुझे वह निस्तेज लगा।

फिर भी यह लड़ाई का जो अदृश्य परिणाम आये उसका फायदा आज भी देखा जा सकता है। और उठाया भी जा रहा है। ख़ेडा सत्याग्रह से।

इससे गुजरात के लोक-जीवन में नया तेज आया, नया उत्साह उत्पन्न हुआ। पाटीदारों को अपनी शक्ति का जो ज्ञान हुआ, उसे वे कभी न भूले। सब कोई समझ गये कि जनता की मुक्ति का आधार स्वयं जनता पर, उसकी त्यागशक्ति पर है। सत्याग्रह ने खेड़ा के द्वारा गुजरात में अपनी जड़ जमा ली।

भाग-१४ : रंगरूटों की भरती

७४. रंगरूटों की भरती

जिन दिनों खेड़ा का आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों यूरोप का महायुद्ध भी जारी ही था। वाइसरोय ने उसके सिलसिले में नेताओं को दिल्ली बुलाया था। मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं भी उसमें हाज़िर होऊँ।

मैंने निमंत्रण स्वीकार किया और मैं दिल्ली गया। किन्तु इस सभा में सम्मिलित होते समय मेरे मन में एक संकोच था। मुख्य कारण तो यह था कि इस सभा में अलीभाइयों को, लोकमान्य को और दूसरे नेताओं को निमंत्रित नहीं किया गया था।

इस बात को तो मैं दक्षिण अफ़्रीका में ही समझ चुका था कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच सच्चा मित्रभाव नहीं है। मैं वहाँ ऐसे एक भी उपाय को हाथ से जाने न देता था, जिससे दोनों के बीच की अनबन दूर हो। झूठी खुशामद करके अथवा स्वाभिमान खोकर उनको अथवा किसी और को रिझाना मेरे स्वभाव में न था। लेकिन वहीं से मेरे दिल में यह बात जमी हुई थी कि मेरी अहिंसा की कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस एकता के सिलसिले में ही होगा।

इस प्रकार के विचार लेकर मैं बम्बई बन्दर पर उतरा था। इसलिए मुझे इन दोनों अलीभाइयों से मिलकर प्रसन्नता हुई। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारी जान-पहचान होने के बाद तुरन्त ही अलीभाइयों को सरकार ने जीते-जी दफ़ना दिया। मौलाना मुहम्मदअली को जब इजाज़त मिलती, तब वे बैतूल या छिंदवाड़ा ज़ेल से मुझे लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलने की इजाज़त सरकार से माँगी थी, पर वह मिल न सकी।

चूँकि मैंने खिलाफ़त के मामले में मुसलमानों का साथ दिया था, इसलिए इस सम्बन्ध में मित्रों और आलोचकों ने मेरी काफ़ी आलोचना की है। उन सब पर विचार करने के बाद जो राय मैंने बनायी और जो मदद दी या दिलायी, उसके बारे में मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है, न उसमें मुझे कोई सुधार ही करना है। मुझे लगता है कि आज भी ऐसा सवाल उठे, तो मेरा व्यवहार पहले की तरह ही होगा।

इस प्रकार के विचार लेकर मैं दिल्ली गया। मुसलमानों के दुःख की चर्चा मुझे वाइसरोय से करनी थी। खिलाफ़त के प्रश्न ने अभी पूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एण्ड्रूज ने एक नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया। उन्हीं दिनों इटली और इंग्लैण्ड के बीच गुप्त संधि होने की जो चर्चा अंग्रेज़ी अखबारों में छिड़ी थी, उसकी बात कहकर दीनबन्धु ने मुझसे कहा : "यदि इंग्लैण्ड ने इस प्रकार की गुप्त संधि किसी राष्ट्र के साथ की हो, तो आप इस सभा में सहायक की तरह कैसे भाग ले सकते हैं?" मैं इस संधियों के विषय में कुछ जानता नहीं था। दीनबन्धु का शब्द मेरे लिए पर्याप्त था। इस कारण को निमित्त बनाकर मैंने लार्ड चेम्सफर्ड को पत्र लिखा कि सभा में सम्मिलित होते हुए मुझे संकोच हो रहा है। उन्होंने मुझे चर्चा के लिए बुलाया। उनके साथ और बाद में मि. मेफी के साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सभा में सम्मिलित होना स्वीकार किया। थोड़े में वाइसरोय की दलील यह थी : "आप यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्री-मंडल जो कुछ करे, उसकी जानकारी वाइसरोय को होनी ही चाहिए? मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश सरकार कभी भूल करती ही नहीं। कोई भी ऐसा दावा नहीं करता। किन्तु यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि उसका अस्तित्व संसार के लिए कल्याणकारी है, यदि आप यह मानते हैं कि उसके कार्यों से इस देश को कुल मिलाकर कुछ लाभ हुआ है, तो क्या आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उसकी विपत्ति के समय उसे मदद पहुँचाना प्रत्येक नागरिक का धर्म है? गुप्त संधि के विषय में आपने समाचारपत्रों में जो देखा है, वही मैंने भी देखा है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता यह मैं आपसे विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ। अखबारों में कैसी-कैसी गप्पें आती हैं, यह तो आप जानते ही हैं। क्या अखबारों में आयी हुई एक निन्दासूचक बात पर आप ऐसे समय राज्य का त्याग कर सकते हैं? लड़ाई समाप्त होने पर आपको जितने नैतिक प्रश्न उठाने हों उतने उठा सकते हैं और जितनी तकरार करनी हो उतनी कर सकते हैं।"

यह दलील नई नहीं थी। लेकिन जिस अवसर पर और जिस रीति से यह पेश की गयी, उससे मुझे नई-जैसी लगी और मैंने सभा में जाना स्वीकार कर लिया। खिलाफ़त के बारे में यह निश्चय हुआ कि मैं वाइसरोय को पत्र लिखकर भेजूँ।

मैं सभा में हाज़िर हुआ। वाइसरोय की तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियों की मदद वाले प्रस्ताव का समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानी में बोलने की इजाज़त चाही। वाइसरोय ने इजाज़त तो दी, किन्तु साथ ही अंग्रेज़ी में भी बोलने को कहा। मुझे भाषण तो करना ही नहीं था। मैंने वहाँ जो कहा सो इतना ही था : "मुझे अपनी जिम्मेदारी का पूरा ख़याल है और उस जिम्मेदारी को समझते हुए मैं इस प्रस्ताव का समर्थन करता हूँ।"

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भरती करने की थी। इसकी याचना मैं खेड़ा में न करता तो और कहाँ करता? पहले अपने साथियों को न न्योतता तो किसे न्योतता? खेड़ा पहुँचते ही वल्लभभाई इत्यादि के साथ मैंने सलाह की। उनमें से कुछ के गले बात तुरन्त उतरी नहीं। जिनके गले उतरी उन्होंने कार्य की सफलता के विषय में शंका प्रकट की। जिन लोगों में से रंगरूटों की भरती करनी थी, उन लोगों में सरकार के प्रति किसी प्रकार का अनुराग न था। सरकारी अफ़सरों का उन्हें जो कड़वा अनुभव हुआ था, वह भी ताज़ा ही था।

फिर भी सब इस पक्ष में हो गये कि काम शुरू कर दिया जाये। शुरू करते ही मेरी आँख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ शिथिल पड़ा। खेड़ा की लड़ाई में लोग अपनी बैलगाड़ी मुफ़्त में देते थे। जहाँ एक स्वयंसेवक की हाज़िरी की ज़रूरत थी, वहाँ तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसे देने पर भी गाड़ी दुर्लभ हो गयी। लेकिन हम यों निराश होने वाले नहीं थे। गाड़ी के बदले हमने पैदल यात्रा करने का निश्चय किया। रोज़ बीस मील की मंज़िल तय करनी थी। जहाँ गाड़ी न मिलती, वहाँ खाना तो मिलता ही कैसे? माँगना भी उचित नहीं जान पड़ा। अतएव यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने खाने के लिए पर्याप्त सामग्री अपनी थैली में लेकर निकले। गर्मी के दिन थे, इसलिए साथ में ओढ़ने के लिए तो कुछ रखने की आवश्यकता न थी।

हम जिस गाँव में जाते, उस गाँव में सभा करते। लोग आते, लेकिन भरती के लिए नाम तो मुश्किल से एक या दो ही मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार उठाने के लिए क्यों कहते हैं?' 'सरकार ने हिन्दुस्तान का क्या भला किया है कि आप हमें उसकी मदद करने को कहते हैं?' ऐसे अनेक प्रकार के प्रश्न मेरे सामने रखे जाते थे।

यह सब होते हुए भी धीरे-धीरे हमारे सतत कार्य का प्रभाव लोगों पर पड़ने लगा था। नाम भी काफ़ी संख्या में दर्ज होने लगे थे और हम यह मानने लगे थे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े, तो दूसरों के लिए रास्ता खुल जाएगा। यदि रंगरूट निकलें तो उन्हें कहाँ रखा जाये इत्यादि प्रश्नों की चर्चा मैं कमीशनर से करने लगा था। कमीशनर दिल्ली के ढंग पर जगह-जगह सभायें करने लगे थे। गुजरात में भी वैसी सभा हुई। उसमें मुझे और साथियों को निमंत्रित किया गया था। मैं उसमें भी सम्मिलित हुआ था। पर यदि दिल्ली की सभा में मेरे लिए कम स्थान था, तो यहाँ की सभा में तो उससे भी कम स्थान मुझे अपने लिए मालूम हुआ। 'जी-हुजूरी' के वातावरण में मुझे चैन न पड़ता था। यहाँ मैं कुछ अधिक बोला था। मेरी बात में खुशामद-जैसी तो कोई चीज़ थी ही नहीं, बल्कि दो कड़वे शब्द भी थे।

रंगरूटों की भरती के सिलसिले में मैंने जो पत्रिंका प्रकाशित की थी, उसमें भरती के लिए लोगों को निमंत्रित करते हुए जो एक दलील दी गयी थी वह कमीशनर को बुरी लगी थी। उसका आशय यह था : "ब्रिटिश राज्य के अनेकानेक दुष्कृत्यों में समूची प्रजा को निःशस्त्र बनाने वाले क़ानून को इतिहास उसका काले से काला काम मानेगा। इस क़ानून को रद कराना हो और शस्त्रों का उपयोग सीखना हो, तो उसके लिए यह एक सुवर्ण अवसर है। संकट के समय में मध्यमश्रेणी के लोग स्वेच्छा से शासन की सहायता करेंगे, तो अविश्वास दूर होगा और जो व्यक्ति शस्त्र धारण करना चाहेगा वह आसानी से वैसा कर सकेगा।" इसको लक्ष्य में रखकर कमीशनर को कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेद के रहते हुए भी सभा में मेरी उपस्थिति उन्हें प्रिय थी। मुझे भी अपने मत का समर्थन यथासंभव मीठे शब्दों में करना पड़ा था।

७५. मृत्यु-शय्या पर

रंगरूटों की भरती के काम में मेरा शरीर काफ़ी क्षीण हो गया। उन दिनों मेरे आहार में मुख्यतः सिकी हुई और कुटी हुई मूँगफली, दो-तीन नीबू का पानी, इतनी चीजें रहा करती थीं। मैं जानता था कि अधिक मात्रा में खाने से मूँगफली नुक़सान करती है। फिर भी वह अधिक खा ली गयी। उसके कारण पेट में कुछ पेचिश रहने लगी। मैं समय-समय पर आश्रम में तो आता ही था। मुझे यह पेचिश बहुत ध्यान देने योग्य प्रतीत न हुई। रात आश्रम पहुँचा। उन दिनों मैं दवा क्वचित् ही लेता था। विश्वास यह था कि एक बार का खाना छोड़ देने से दर्द मिट जाएगा। दूसरे दिन सबेरे कुछ भी न खाया था। इससे दर्द लगभग बंद हो चुका था। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास चालू रखना चाहिए अथवा खाना ही हो तो फल के रस जैसी कोई चीज़ लेनी चाहिए।

उस दिन कोई त्यौहार था। मुझे याद पड़ता है कि मैंने कस्तूरबाई से कह दिया था कि मैं दोपहर को भी नहीं खाऊँगा। लेकिन उसने मुझे ललचाया और मैं लालच में फँस गया। उन दिनों मैं किसी पशु का दूध नहीं लेता था। इससे घी-छाछ का भी मैंने त्याग कर दिया था। इसलिए उसने मुझसे कहा कि आपके लिए दले हुए गेहूँ को तेल में भूनकर लपसी बनायी गयी है और खास तौर पर आपके लिए ही पूरे मूँग भी बनाये गये हैं। मैं स्वाद के वश होकर पिघला। पिघलते हुए भी इच्छा तो यह रखी थी कि कस्तूरबाई को खुश रखने के लिए थोड़ा खा लूँगा, स्वाद भी ले लूँगा और शरीर की रक्षा भी कर लूँगा। पर शैतान अपना निशाना ताक कर ही बैठा था। खाने बैठा तो थोड़ा खाने के बदले पेट भर कर खा गया। इस प्रकार स्वाद तो मैंने पूरा लिया, पर साथ ही यमराज को न्योता भी भेज दिया। खाने के बाद एक घंटा भी न बीता था कि ज़ोर की पेचिश शुरू हो गयी।

चिन्तातुर होकर साथियों ने मुझे चारों ओर से घेर लिया। उन्होंने मुझे अपने प्रेम से नहला दिया। पर वे बेचारे मेरे दुःख में किस प्रकार हाथ बँटा सकते थे। मेरे हठ का पार न था। मैंने डोक्टर को बुलाने से इनकार कर दिया। दवा तो लेनी ही न थी; सोचा, किये हुए पाप की सज़ा भोगूँगा। साथियों ने यह सब मुँह लटका कर सहन किया। चौबीस घंटों में तीस-चालीस बार पाखाने की

हाजत हुइ होगी। खाना मैं बन्द कर ही चुका था, और शुरू के दिनों में तो मैंने फल का रस भी नहीं लिया था। लेने की बिलकुल रुचि न थी।

आज तक जिस शरीर को मैं पत्थर के समान मानता था, वह अब गीली मिट्टी-जैसा बन गया। शक्ति क्षीण हो गयी। डोक्टर कानूगा आये। दवा लेने के लिए समझाया। मैंने इनकार किया। उन्होंने पिचकारी लगवाने की सलाह दी। मैंने उसके लिए भी इनकार कर दिया। उस समय का पिचकारी-विषयक मेरा अज्ञान हास्यास्पद था। मैं यह मानता था कि पिचकारी में किसी-न-किसी प्रकार की लसी होगी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह तो निर्दोष वनस्पति से बनी औषधि की पिचकारी थी। पर जब समझ आयी तब अवसर बीत चुका था। हाजतें तो जारी ही थीं। अतिशय परिश्रम के कारण बुखार आ गया और बेहोशी भी आ गयी। मित्र अधिक घबराये। दूसरे डोक्टर भी आये। पर जो रोगी उनकी बात माने नहीं, उसके लिए वे क्या कर सकते थे?

वैद्य मित्र और डोक्टर मित्र अनेक प्रकार की सलाह देते थे, पर मैं किसी तरह दवा पीने को तैयार नहीं हुआ। दो-तीन मित्रों ने सलाह दी कि दूध लेने में आपत्ति हो, तो माँस का शोरवा लेना चाहिए और औषधि के रूप में माँसादि चाहे जो वस्तु ली जा सकती है। इसके समर्थन में उन्होंने आयुर्वेद के प्रमाण दिये। एक ने अण्डे लेने की सिफ़ारिश की। लेकिन मैं इनमें से किसी भी सलाह को स्वीकार न कर सका। मेरा उत्तर एक ही था – नहीं।

खाद्याखाद्य का निर्णय मेरे लिए केवल शास्त्रों के श्लोकों पर अवलंबित नहीं था, बल्कि मेरे जीवन के साथ वह स्वतंत्र रीति से जुड़ा हुआ था। चाहे जो चीज़ खाकर और चाहे जैसा उपचार करके जीने का मुझे तनिक भी लोभ न था। जिस धर्म का आचरण मैंने अपने पुत्रों के लिए किया, स्त्री के लिए किया, स्नेहियों के लिए किया, उस धर्म का त्याग मैं अपने लिए कैसे करता?

इस प्रकार मुझे अपनी इस बहुत लम्बी और जीवन की सबसे पहली इतनी बड़ी बीमारी में धर्म का निरीक्षण करने और उसे कसौटी पर चढ़ाने का अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैंने बिलकुल ही आशा छोड़ दी थी। मुझे ऐसा भास हुआ कि अब मृत्यु समीप ही है।

यों मैं मौत की राह देखता बैठा था। इतने में डो. तलवलकर एक विचित्र प्राणी को लेकर आये। वे महाराष्ट्री हैं। हिन्दुस्तान उन्हें पहचानता नहीं। मैं उन्हें देखकर समझ सका था कि वे मेरी ही तरह 'चक्रम' हैं। वे अपने उपचार का प्रयोग मुझ पर करने के लिए आये थे।

सो भी बरफ के अर्थात् पानी के। अतएव उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ़ घिसनी शुरू की। इस इलाज से जितने परिणाम की आशा वे लगाये हुए थे, उतना परिणाम तो मेरे सम्बन्ध में नहीं निकला। फिर भी मैं, जो रोज़ मौत की राह देखा करता था, अब मरने के बदले कुछ जीने की आशा रखने लगा। मुझमें कुछ उत्साह पैदा हुआ। मन के उत्साह के साथ मैंने शरीर में भी उत्साह का अनुभव किया। मैं कुछ अधिक खाने लगा। और मैं आसपास के कामों में थोड़ा-थोड़ा रस लेने लगा।

मेरी तबीयत की हिफ़ाज़त का जिम्मा शंकरलाल बैंकर ने अपने हाथ में लिया था। उन्होंने डो. दलाल से सलाह लेने का आग्रह किया। डो. दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करने की शक्ति ने मुझे मुग्ध कर लिया। वे बोले :

“जब तक आप दूध न लेंगे, मैं आपके शरीर को फिर से हृष्ट-पुष्ट न बना सकूँगा। उसे पुष्ट बनाने के लिए आपको दूध लेना चाहिए और लोहे तथा आर्सेनिक की पिचकारियाँ लेनी चाहिए। यदि आप इतना करें, तो आपके शरीर को पुनः पुष्ट करने की गारण्टी मैं देता हूँ।”

मैंने जवाब दिया : “पिचकारी लगाइये, लेकिन दूध मैं न लूँगा।”

डोक्टर ने पूछा : “दूध के सम्बन्ध में आपकी प्रतिज्ञा क्या है?”

“यह जानकर कि गाय-भैंस पर फूँके की क्रिया की जाती है, मुझे दूध से नफ़रत हो गयी है। और, यह तो मैं सदा से मानता रहा हूँ कि दूध मनुष्य का आहार नहीं है। इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।”

यह सुनकर कस्तूरबाई, जो मेरी खटिया के पास ही खड़ी थी, बोल उठी : “तब तो बकरी का दूध आप ले सकते हैं।”

डोक्टर बीच में बोले : “आप बकरी का दूध लें, तो मेरा काम बन जाये।”

मैं गिरा। सत्याग्रह की लड़ाई के मोह ने मेरे अन्दर जीने का लोभ पैदा कर दिया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरार्थ के पालन से संतोष मानकर उसकी आत्मा का हनन किया। यद्यपि दूध की प्रतिज्ञा लेते समय मेरे सामने गाय- भैंस ही थीं, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्र की मानी जानी चाहिए। और, जब तक मैं पशु के दूधमात्र को मनुष्य के आहार के रूप में निषिद्ध मानता हूँ, तब तक मुझे उसे लेने का अधिकार नहीं, इस बात को जानते हुए भी मैं बकरी का दूध लेने को तैयार हो गया। सत्य के पुजारीने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीने की इच्छा रखकर अपने सत्य को लांछित किया।

मेरे इस कार्य का डंक अभी तक मिटा नहीं है और बकरी का दूध छोड़ने के विषय में मेरा चिन्तन तो चल ही रहा है। किन्तु सेवा करने का महासूक्ष्म मोह, जो मेरे पीछे पड़ा है, मुझे छोड़ता नहीं।

बकरी का दूध शुरू करने के कुछ दिन बाद डो. दलाल ने गुदाद्वार की दरारों का आपरेशन किया और वह बहुत सफल हुआ।

भाग-१५ : रोलेट एक्ट और राजनीति में प्रवेश

७६. रोलेट एक्ट

शरीर बना और जीने की आशा बनने लगी। ईश्वर ने मेरे लिए काम तैयार ही रखा था।

बिछौना छोड़कर उठने की कुछ आशा बँध रही थी और अखबार बगैरा पढ़ने लगा ही था कि इतने में रौलट कमेटी की रिपोर्ट मेरे हाथ में आयी। उसकी सिफ़ारिशें पढ़कर मैं चौंका। भाई उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकर ने चाहा कि कोई निश्चित क़दम उठाना चाहिए। एकाध महीने में मैं अहमदाबाद गया। वल्लभभाई प्रायः प्रतिदिन मुझे देखने आते थे। मैंने उनसे बात की और सुझाया कि इस विषय में हमें कुछ करना चाहिए। "क्या किया जा सकता है?" इसके उत्तर में मैंने कहा: "यदि थोड़े लोग भी इस सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करने वाले मिल जाएँ तो, और कमेटी की सिफ़ारिश के अनुसार क़ानून बने तो, हमें सत्याग्रह शुरू करना चाहिए। यदि मैं बिछौने पर पड़ा न होता, तो अकेला भी इसमें जूझता और यह आशा रखता कि दूसरे लोग बाद में आ मिलेंगे। किन्तु अपनी लाचार स्थिति में अकेले जूझने की मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है।"

इस बातचीत के परिणाम-स्वरूप ऐसे कुछ लोगों की एक छोटी सभा बुलाने का निश्चय हुआ,

कोई भी चलती हुई संस्था सत्याग्रह-जैसे नये शस्त्र को स्वयं उठा ले, इसे मैंने असम्भव माना। इस कारण सत्याग्रह-सभा की स्थापना हुई।

लेकिन मैंने शुरू में ही देख लिया कि यह सभा लम्बे समय तक टिक नहीं सकेगी। इसके अलावा, सत्य और अहिंसा पर जो ज़ोर मैं देता था, वह कुछ लोगों को अप्रिय मालूम हुआ। फिर भी शुरू के दिनों में यह नया काम धड़ल्ले के साथ आगे बढ़ा।

अभी बिल गज़ट में नहीं छपा था। मेरा शरीर कमज़ोर था, किन्तु मद्रास से आये हुए निमंत्रण को स्वीकार करना चाहिए ऐसा मुझे लगा फिर भी मैंने लम्बी यात्रा का खतरा उठाया।

राजगोपालाचार्य सेलम छोडकर अभी-अभी ही मद्रास में वकालत करने के लिए आये थे। सभाओं के सिवा मुझे और कुछ सूझता ही न था। यदि रौलट बिल क़ानून बन जाए, तो उसकी

सविनय अवज्ञा किस प्रकार की जाएँ? उसकी सविनय अवज्ञा करने का अवसर तो सरकार दे तभी मिल सकता है। दूसरे कानूनों की सविनय अवज्ञा की जा सकती है? उसकी मर्यादा क्या हो? आदि प्रश्नों की चर्चा होती थी।

इस प्रकार मन्थन-चिन्तन चल रहा था कि इतने में समाचार मिला कि बिल क़ानून के रूप में गज़ट में छप गया है। इस खबर के बाद की रात को मैं विचार करते-करते सो गया। सवेरे जल्दी जाग उठा। अर्धनिद्रा की दशा रही होगी, ऐसे में मुझे सपने में एक विचार सूझा। मैंने सवेरे ही सवेरे राजगोपालाचार्य को बुलाया और कहा :

"मुझे रात स्वप्नावस्था में यह विचार सूझा कि इस क़ानून के जवाब में हम सारे देश को हड़ताल करने की सूचना दें। सत्याग्रह आत्मशुद्धि की लड़ाई है। वह धार्मिक युद्ध है। धर्मकार्य का आरंभ शुद्धि से करना ठीक मालूम होता है। उस दिन सब उपवास करें और काम-धंधा बन्द रखें। मुसलमान भाई रोज़े से अधिक उपवास न करेंगे, इसलिए चौबीस घंटों का उपवास करने की सिफ़ारिश की जाए। इसमें सब प्रान्त सम्मिलित होंगे या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। पर बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्ध की आशा तो मुझे है ही। यदि इतने स्थानों पर भी ठीक से हड़ताल रहे, तो हमें संतोष मानना चाहिए।"

राजगोपालाचार्य को यह सूचना बहुत अच्छी लगी। बाद में दूसरे मित्रों को तुरन्त इसकी जानकारी दी गयी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटी-सी विज्ञप्ति तैयार कर ली। पहले १९१९ के मार्च की ३० वीं तारीख रखी गयी थी। बाद में ६ अप्रैल रखी गयी। लोगों को बहुत ही थोड़े दिन की मुद्दत दी गयी थी। चूँकी काम तुरन्त करना ज़रूरी समझा गया था, अतएव तैयारी के लिए लंबी मुद्दत देने का समय ही न था।

लेकिन न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गयी। समूचे हिन्दुस्तान में – शहरों में और गाँवों में – हड़ताल हुई! वह दृश्य भव्य था!

७७. वह सप्ताह!

१

दक्षिण में थोड़ी यात्रा करके मैं बम्बई पहुँचा। बम्बई की हड़ताल संपूर्ण थी।

यहाँ क़ानून की सविनय अवज्ञा की तैयारी कर रखी थी। जिनकी अवज्ञा की जा सके ऐसी दो-तीन चीज़ें थीं। जो क़ानून रद किये जाने लायक थे और जिनकी अवज्ञा सब सरलता से कर सकते थे, उनमें से एक का ही उपयोग करने का निश्चय था। नमक-कर का क़ानून सबको अप्रिय था। उस कर को रद कराने के लिए बहुत कोशिशें हो रही थीं। अतएव मैंने एक सुझाव यह रखा था कि सब लोग बिना परवाने के अपने घर में नमक बनायें। दूसरा सुझाव सरकार द्वारा जब्त की हुई पुस्तकें छपाने और बेचने का था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थीं: *हिन्द स्वराज्य* और *सर्वोदय*। इन पुस्तकों का छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय अवज्ञा मालूम हुई। इसलिए ये पुस्तकें छपायी गयीं और शाम को उपवास छूटने के बाद और चौपाटी की विराट सभा के विसर्जित होने के बाद इन्हें बेचने का प्रबंध किया गया।

दिनांक ६ के शाम को कई स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। इनकी जो कीमत वसूल होती, वह लड़ाई के काम में ही खर्च की जाने वाली थी। एक प्रति का मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर शायद ही किसीने चार आने रखे होंगे। अपनी जेब में जो था सो सब देकर किताबें खरीदने वाले बहुतेरे निकल आये। कोई-कोई दस और पाँच के नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रति के लिए ५० रुपये के नोट भी मिले थे। लोगों को समझा दिया गया था कि खरीदने वाले के लिए भी ज़ेल का खतरा है। लेकिन क्षणभर के लिए लोगों ने ज़ेल का भय छोड़ दिया था।

७ तारीख को पता चला कि जिन किताबों के बेचने पर सरकार ने रोक लगायी थी, सरकार की दृष्टि से वे बेची नहीं गयी हैं। जो पुस्तकें बिकी हैं वे तो उनकी दूसरी आवृत्ति मानी जाएँगी। जब्त की हुई पुस्तकों में उनकी गिनती नहीं हो सकती। सरकार की ओर से यह कहा गया था कि नई आवृत्ति छपाने, बेचने और खरीदने में कोई गुनाह नहीं है। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

७ अप्रैल की रात को मैं दिल्ली-अमृतसर जाने के लिए रवाना हुआ। ८ को मथुरा पहुँचने पर कुछ ऐसी भनक कान तक आई कि शायद मुझे गिरफ़्तार करेंगे। मथुरा के बाद एक स्टेशन पर गाड़ी रुकती थी। वहाँ आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मेरे पकड़े जाने के बारे में पक्की खबर दी और ज़रूरत हो तो अपनी सेवा अर्पण करने के लिए कहा।

पलवल स्टेशन आने के पहले ही पुलिस अधिकारी ने मेरे हाथ पर आदेश-पत्र रखा। आदेश इस प्रकार का था : "आपके पंजाब में प्रवेश करने से अशांति बढ़ने का डर है, अतएव आप पंजाब की सीमा में प्रवेश न करें।" आदेश-पत्र देकर पुलिस ने मुझे उतर जाने को कहा। मैंने उतरने से इनकार किया और कहा : "मैं अशांति बढ़ाने नहीं, बल्कि निमंत्रण पाकर अशांति घटाने के लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए खेद है कि मुझसे इस आदेश का पालन नहीं हो सकेगा।"

मुझे पलवल स्टेशन पर उतार लिया गया और पुलिस के हवाले किया गया। फिर दिल्ली से आने वाली किसी ट्रेन के तीसरे दर्जे के ड़िबे में मुझे बैठाया गया और साथ में पुलिस का दल भी बैठा। मथुरा पहुँचने पर मुझे पुलिस की बारक में ले गये। मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है, सो कोई पुलिस अधिकारी मुझे बता न सका। सुबह ४ बजे मुझे जगाया गया और बम्बई की ओर जाने वाली मालगाड़ी में बैठा दिया गया।

सूरत पहुँचने पर किसी दूसरे अधिकारी ने मुझे अपने क़ब्ज़े में लिया। उसने मुझे रास्ते में कहा : "आप रिहा कर दिये गये हैं। लेकिन आपके लिए मैं ट्रेन को मरीन लाइन्स स्टेशन के पास रुकवाऊँगा। आप वहाँ उतर जाएँगे, तो ज़्यादा अच्छा होगा। कोलाबा स्टेशन पर बड़ी भीड़ होने की संभावना है।" मैंने उससे कहा कि आपका कहा करने में मुझे प्रसन्नता होगी। वह खुश हुआ और उसने मुझे धन्यवाद दिया। मैं मरीन लाइन्स पर उतरा। वहाँ किसी परिचित की घोड़ागाड़ी दिखायी दी। वे मुझे रेवाशंकर झवेरी के घर छोड़ गये। उन्होंने मुझे खबर दी : "आपके पकड़े जाने की खबर पाकर लोग क्रुद्ध हो गये हैं और पागल-से बन गये हैं। पायधूनी के पास दंगे का ख़तरा है। मजिस्ट्रेट और पुलिस वहाँ पहुँच गयी है।"

मैं घर पहुँचा ही था कि इतने में उमर सोबानी और अनसूयाबहन मोटर में आये और उन्होंने मुझे पायधूनी चलने को कहा। उन्होंने बताया, “लोग अधीर हो गये हैं और बड़े उत्तेजित हैं। हम में से किसी के किये शांत नहीं हो सकते। आपको देखेंगे तभी शांत होंगे।”

मैं मोटर में बैठ गया। पायधूनी पहुँचते ही रास्ते में भारी भीड़ दिखायी दी। लोग मुझे देखकर हर्षोन्मत्त हो उठे। अब जुलूस बना। 'वन्दे मातरम्' और 'अल्लाहो अकबर' के नारों से आकाश गूँज उठा। पायधूनी पर घुड़सवार दिखायी दिये। ऊपर से ईंटों की वर्षा हो रही थी। मैं हाथ जोड़कर लोगों से प्रार्थना कर रहा था कि वे शांत रहें। पर जान पड़ा कि हम भी ईंटों की इस बौछार से बच नहीं पायेंगे ।

अब्दुर्रहमान गली में से क्राफर्ड़ मारकेट की ओर जाते हुए जुलूस को रोकने के लिए घुड़सवारों की एक टुकड़ी सामने से आ पहुँची। वे जुलूस को किले की ओर जाने से रोकने की कोशिश कर रहे थे। लोग वहाँ समा नहीं रहे थे। लोगों ने पुलिस की पाँत को चीरकर आगे बढ़ने के लिए ज़ोर लगाया। वहाँ हालत ऐसी नहीं थी कि मेरी आवाज़ सुनायी पड़ सके। यह देखकर घुड़सवारों की टुकड़ी के अफ़सर ने भीड़ को तितर-बितर करने का हुक्म दिया और अपने भालों को घुमाते हुए इस टुकड़ी ने एकदम घोड़े दौड़ाने के शुरू कर दिये। मुझे डर लगा कि उनके भाले हमारा काम तमाम कर दें तो आश्चर्य नहीं। पर मेरा वह डर निराधार था। बगल से होकर सारे भाले रेलगाड़ी की गति से सनसनाते हुए दूर निकल जाते थे। लोगों की भीड़ में दरार पड़ी। भगदड़ मच गई। कोई कुचले गये। कोई घायल हुए। घुड़सवारों को निकलने के लिए रास्ता नहीं था। लोगों के लिए आसपास बिखरने का रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटें तो उधर भी हज़ारों लोग ठसाठस भरे हुए थे। सारा दृश्य भयंकर प्रतीत हुआ। घुड़सवार और जनता दोनों पागल-जैसे मालूम हुए। घुड़सवार कुछ देखते ही नहीं थे अथवा देख नहीं सकते थे। वे तो टेढ़े होकर घोड़ों को दौड़ाने में लगे थे। मैंने देखा कि जितना समय इन हज़ारों के दल को चीरने में लगा, उतने समय तक वे कुछ देख ही नहीं सकते थे।

इस तरह लोगों को तितर-बितर किया गया और आगे बढ़ने से रोका गया। हमारी मोटर को आगे जाने दिया गया। मैंने कमीशनर के कार्यालय के सामने मोटर रुकवाई और मैं उससे पुलिस के व्यवहार की शिकायत करने के लिए उतरा।

इस तरह हमारी दलीलें होती रही। हमारे मत का मेल मिलने वाला न था। मैं यह कहकर बिदा हुआ कि चौपाटी पर सभा करने और लोगों को शांति रखने के लिए समझाने का मेरा इरादा है।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगों को शांति और सत्याग्रह की मर्यादा के विषय में समझाया और बतलाया, "सत्याग्रह सच्चे का हथियार है। यदि लोग शांति न रखेंगे, तो मैं सत्याग्रह की लड़ाई कभी लड़ न सकूँगा।"

अहमदाबाद से श्री अनसूयाबहन को भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ उपद्रव हुआ है। किसीने अफ़वाह फैला दी थी कि वे भी पकड़ी गयी हैं। इससे मज़दूर पागल हो उठे थे। उन्होंने हड़ताल कर दी थी, उपद्रव भी मचाया था; और एक सिपाही का खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। मुझे पता चला कि नड़ियाद के पास रेल की पटरी उखाड़ने की कोशिश भी हुई थी। वीरमगाम में एक सरकारी कर्मचारी का खून हो गया था। अहमदाबाद पहुँचा तब वहाँ मार्शल लो जारी था। लोगों में आतंक फैला हुआ था। लोगों ने जैसा किया वैसा पाया और उसका ब्याज भी पाया।

मुझे कमीशनर मि. प्रेट के पास ले जाने के लिए एक आदमी स्टेशन पर हाज़िर था। मैं उनके पास गया। वे बहुत गुस्से में थे। मैंने उन्हें शान्ति से उत्तर दिया। जो हत्या हुई थी उसके लिए मैंने खेद प्रकट किया। यह भी सुझाया कि मार्शल लो की आवश्यकता नहीं है, और पुनः शान्ति स्थापित करने के लिए जो उपाय करने ज़रूरी हों, सो करने की अपनी तैयारी बतायी। मैंने आम सभा बुलाने की माँग की। यह सभा आश्रम की भूमि पर करने की अपनी इच्छा प्रकट की। उन्हें यह बात अच्छी लगी। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने रविवार ता. १३ अप्रैल को सभा की थी। मार्शल लो भी उसी दिन अथवा दूसरे दिन रद्द हुआ था। इस सभा में मैंने लोगों को उनके अपने दोष

दिखाने का प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्त के रूप में तीन दिन के उपवास किये और लोगों को एक दिन का उपवास करने की सलाह दी। जिन्होंने हत्या बगैरा में हिस्सा लिया हो उन्हें मैंने सुझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें।

मैंने अपना धर्म स्पष्ट देखा। जिन मज़दूरों आदि के बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी और जिनके विषय में मैं अच्छे व्यवहार की आशा रखता था, उन्होंने उपद्रव में हिस्सा लिया, यह मुझे असह्य मालूम हुआ और मैंने अपने को उनके दोष में हिस्सेदार माना।

जिस तरह मैंने लोगों को समझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें, उसी तरह सरकार को भी गुनाह माफ़ करने की सलाह दी। दोनों में से किसी एकने भी मेरी बात नहीं सुनी।

स्व॰ रमणभाई आदि नागरिक मेरे पास आये और मुझे सत्याग्रह मुलतवी करने के लिए मनाने लगे। पर मुझे मनाने की आवश्यकता ही नहीं रही थी। मैंने स्वयं निश्चय कर लिया था कि जब तक लोग शांति का पाठ न सीख ले, तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाये। इससे वे प्रसन्न हुए।

कुछ मित्र नाराज़ भी हुए। उनका ख़याल यह था कि अगर मैं सब कहीं शांति की आशा रखूँ और सत्याग्रह की यही शर्त रहे, तो बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही नहीं सकता। मैंने अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगों में काम किया गया है, जिनके द्वारा सत्याग्रह करने की आशा रखी जाती है, वे यदि शान्ति का पालन न करें, तो अवश्य ही सत्याग्रह कभी चल नहीं सकता। मेरी दलील यह थी कि सत्याग्रही नेताओं को इस प्रकार की मर्यादित शान्ति बनाये रखने की शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अपने इन विचारों को मैं आज भी बदल नहीं सका हूँ।

७८. 'पहाड़-जैसी भूल'

अहमदाबाद की सभा के बाद मैं तुरन्त ही नड़ियाद गया। 'पहाड़-जैसी भूल' नामक जो शब्द-प्रयोग प्रसिद्ध हुआ है, उसका उपयोग मैंने पहली बार नड़ियाद में किया। अहमदाबाद में ही मुझे अपनी भूल मालूम पड़ने लगी थी। पर नड़ियाद में वहाँ की स्थिति का विचार करके और यह सुनकर कि खेड़ा जिले के बहुत से लोग पकड़े गये हैं, जिस सभा में मैं घटित घटनाओं पर भाषण कर रहा था, उसमें मुझे अचानक यह ख़याल आया कि खेड़ा जिले के और ऐसे दूसरे लोगों को क़ानून का सविनय भंग करने के लिए निमंत्रित करने में मैंने जल्दबाज़ी की भूल की और वह भूल मुझे पहाड़-जैसी मालूम हुई।

इस प्रकार अपनी भूल क़बूल करने के लिए मेरी खूब हँसी उड़ाई गयी। फिर भी अपनी इस स्वीकृति के लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। मैंने हमेशा यह माना है कि जब हम दूसरों के गज-जैसे दोषों को रजवत् मानकर देखते हैं, और अपने रजवत् प्रतीत होने वाले दोषों को पहाड़-जैसा देखना सीखते हैं, तभी हमें अपने और पराये दोषों का ठीक-ठीक अंदाज़ हो पाता है। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बनने की इच्छा रखने वाले को तो इस साधारण नियम का पालन बहुत अधिक सूक्ष्मता के साथ करना चाहिए।

अब हम यह देखें के पहाड़-जैसी प्रतीत होने वाली वह भूल क्या थी। क़ानून का सविनय भंग उन्हीं लोगों द्वारा किया जा सकता है, जिन्होंने विनयपूर्वक और स्वेच्छा से क़ानून का सम्मान किया हो।

जिसने इस प्रकार समाज के नियमों का विचार-पूर्वक पालन किया है, उसीको समाज के नियमों में नीति-अनीति का भेद करने की शक्ति प्राप्त होती है और उसीको मर्यादित परिस्थितियों में अमुक नियमों को तोड़ने का अधिकार प्राप्त होता है। लोगों के इस तरह का अधिकार प्राप्त करने से पहले मैंने उन्हें सविनय क़ानूनभंग के लिए निमंत्रित किया, अपनी यह भूल मुझे पहाड़-जैसी लगी। और, खेड़ा जिले में प्रवेश करने पर मुझे खेड़ा की लड़ाई का स्मरण हुआ और लगा

कि मैं बिलकुल ग़लत रास्ते पर चल पड़ा हूँ। मुझे लगा कि लोग सविनय क़ानून-भंग करने योग्य बनें, इससे पहले उन्हें उसके गंभीर रहस्य का ज्ञान होना चाहिए।

किन्तु यदि बात ऐसी है तो सविनय क़ानून-भंग कराने से पहले शुद्ध स्वयंसेवकों का एक ऐसा दल खड़ा होना चाहिए, जो लोगों को ये सारी बातें समझाये और प्रतिक्षण उनका मार्गदर्शन करे। और ऐसे दल को सविनय क़ानून-भंग का तथा उसकी मर्यादा का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।

इन विचारों से भरा हुआ मैं बम्बई पहुँचा और सत्याग्रह-सभा के द्वारा सत्याग्रही स्वयंसेवको का एक दल खड़ा किया। लोगों को सविनय क़ानून-भंग का मर्म समझाने के लिए जिस तालीम की ज़रूरत थी, वह इस दल के जरिये देनी शुरू की और इस चीज़ को समझाने वाली पत्रिकायें निकालीं।

यह काम चला तो सही, लेकिन मैंने देखा कि मैं इसमें ज़्यादा दिलचस्पी पैदा नहीं कर सका। स्वयंसेवकों की बाढ़ नहीं आयी। यह नहीं कहा जा सकता कि जो लोग भरती हुए उन सबने नियमित तालीम ली। भरती में नाम लिखाने वाले भी जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे दृढ़ बनने के बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय क़ानून-भंग की गाड़ी मैंने सोचा था उससे धीमी चलेगी।

७९. नवजीवन और यंग ईन्डिया

इन पत्रों के द्वारा मैंने जनता को यथाशक्ति सत्याग्रह की शिक्षा देना शुरू किया। पहले दोनों पत्रों की थोड़ी ही प्रतियाँ खपती थीं। लेकिन बढ़ते-बढ़ते वे चालीस हज़ार के आसपास पहुँच गयीं। *नवजीवन* के ग्राहक एकदम बढ़े, जब कि *यंग इन्डिया* के धीरे-धीरे बढ़े। मेरे ज़ेल जाने के बाद इसमें कमी हुई और आज दोनों की ग्राहक-संख्या ८,००० से नीचे चली गयी है।

इन पत्रों में विज्ञापन न लेने का मेरा आग्रह शुरू से ही था। मैं मानता हूँ कि इससे कोई हानि नहीं हुई और इस प्रथा के कारण पत्रों के विचार-स्वातंत्रय की रक्षा करने में बहुत मदद मिली।

इन पत्रों द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका। क्योंकि यद्यपि मैं सविनय क़ानून-भंग तुरन्त ही शुरू नहीं कर सका, फिर भी मैं अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट कर सका; जो लोग सलाह और सुझाव के लिए मेरी ओर देख रहे थे, उन्हें मैं आश्वासन दे सका।

८०. अमृतसर की महासभा (काँग्रेस)

नये सुधारों के सम्बन्ध में सम्राट की घोषणा प्रकट हो चुकी थी। वह मुझे पूर्ण संतोष देने वाली नहीं थी। और किसीको तो वह बिलकुल पसन्द ही नहीं थी। लेकिन उस समय मैंने यह माना था कि उक्त घोषणा में सूचित सुधार त्रुटिपूर्ण होते हुए भी स्वीकार किये जा सकते हैं।

चित्तरंजन दास का दृढ़ मत था कि सुधारों को बिलकुल असंतोषजनक और अधूरे मानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे। किन्तु देशबंधु जिस प्रस्ताव को पसन्द करें, उसके पक्ष में अपना वज़न डालने का उन्होंने निश्चय कर लिया था।

ऐसे पुराने अनुभवी और कसे हुअ सर्वमान्य लोकनायकों के साथ अपना मतभेद मुझे स्वयं असह्य मालूम हुआ। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने काँग्रेस की बैठक में से भागने का प्रयत्न किया। पं. मोतीलाल नेहरु और मालवीयजी को मैंने यह सुझाया कि मुझे अनुपस्थित रहने देने से सब काम बन जाएँगा और मैं महान नेताओं के साथ मतभेद प्रकट करने के संकट से बच जाऊँगा।

यह सुझाव इन दोनों बुज़ुर्गों के गले न उतरा।

मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। बड़े संकोच से मैंने उसे पेश करना क़बूल किया। मि. जिन्ना और मालवीयजी उसका समर्थन करने वाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि यद्यपि हमारे मतभेद में कहीं कटुता नहीं थी, भाषणों में भी दलीलों के सिवा और कुछ नहीं था, फिर भी सभा जरा-सा भी मतभेद सहन नहीं कर सकती थी और नेताओं के मतभेद से उसे दुःख हो रहा था। सभा को तो एकमत चाहिए था।

जब भाषण हो रहे थे उस समय भी मंच पर मतभेद मिटाने की कोशिशें चल रही थीं। एक-दूसरे के बीच चिठियाँ आ-जा रही थीं। मालवीयजी, जैसे भी बने, समझौता कराने का प्रयत्न कर रहे थे। इतने में जयरामदास ने मेरे हाथ पर अपना सुझाव रखा और सदस्यों को मत देने के संकट से उबार लेने के लिए बहुत मीठे शब्दों में मुझसे प्रार्थना की। मुझे उनका सुझाव पसन्द आया।

मालवीयजी की दृष्टि तो चारों ओर आशा की खोज में घूम ही रही थीं। मैंने कहा : "यह सुझाव दोनों पक्षों को पसन्द आने लायक मालूम होता है।" मैंने उसे लोकमान्य को दिखाया। उन्होंने कहा, "दास को पसन्द आ जाये, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" देशबंधु पिघले। उन्होंने विपिनचंद्र पाल की तरफ देखा। मालवीयजी को पूरी आशा बंध गयी। उन्होंने परची हाथ से छीन ली। अभी देशबंधु के मुँह से 'हाँ' का शब्द पूरा निकल भी नहीं पाया था कि वे बोल उठे : "सज्जनो, आपको यह जानकर खुशी होगी कि समझौता हो गया है।" फिर क्या था? तालियों की गड़गड़ाहट से मंडप गूँज उठा और लोगों के चेहरों पर जो गंभीरता थी, उसके बदले खुशी चमक उठी।

मुझे काँग्रेस के कामकाज में हिस्सा लेना पड़ा, इसे मैं काँग्रेस में अपना प्रवेश नहीं मानता।

अमृतसर के अनुभव ने बतलाया कि मेरी एक-दो शक्तियाँ काँग्रेस के लिए उपयोगी हैं।

अगले साल करने योग्य कामों में से दो कामों में मुझे दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मैं कुछ दखल रखता था।

एक था जलियाँवाला बाग के हत्याकांड का स्मारक। इसके बारे में काँग्रेस ने बड़ी शान के साथ प्रस्ताव पास किया था। स्मारक के लिए करीब पाँच लाख रुपये की रकम इकट्ठी करनी थी। उसके रक्षकों (ट्रस्टियों) में मेरा नाम था। देश में जनता के काम के लिए भिक्षा माँगने की ज़बरदस्त शक्ति रखने वालों में पहला पद मालवीयजी का था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत दूर नहीं रहेगा। अपनी यह शक्ति मैंने दक्षिण अफ़्रीका में देख ली थी।

मेरी दूसरी शक्ति लेखक और मुंशी का काम करने की थी, जिसका उपयोग काँग्रेस कर सकती थी। नेतागण यह समझ चुके थे कि लम्बे समय के अभ्यास के कारण कहाँ, क्या और कितने कम शब्दों में व अविनय-रहित भाषा में लिखना चाहिए सो मैं जानता हूँ। उस समय काँग्रेस का जो विधान था, वह गोखले की छोड़ी हुई पूँजी थी। उन्होंने कुछ नियम बना दिये थे। उनके सहारे काँग्रेस का काम चलता था। वे नियम कैसे बनाये गये, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हीं के मुँह से सुना था। पर अब सब कोई यह अनुभव कर रहे थे कि काँग्रेस का काम उतने ही नियमों से नहीं चल सकधा। उसका विधान बनाने की चर्चायें हर साल उठती थीं। विधान तैयार करने का

भार उठाने की जिम्मेदारी मैंने अपने सिर ली। मेरी एक शर्त थी। जनता पर दो नेताओं का प्रभुत्व मैं देख रहा था। इससे मैंने चाहा कि उनके प्रतिनिधि मेरे साथ रहें। मैं समझता था कि वे स्वयं शांति से बैठकर विधान बनाने का काम नहीं कर सकते। इसलिए लोकमान्य और देशबंधु से उनके विश्वास के दो नाम मैंने माँगे। मैंने यह सुझाव रखा कि इनके सिवा विधान-समिति में और कोई न होना चाहिए। वह सुझाव मान लिया गया। लोकमान्य ने श्री केलकर का और देशबंधु ने श्री आई॰ बी॰ सेन का नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी कहीं मिलकर नहीं बैठी। फिर भी हमने अपना काम एकमत से पूरा किया। पत्र-व्यवहार द्वारा अपना काम चला लिया । इस विधान के लिए मुझे थोड़ा अभिमान है। मैं मानता हूँ कि इसका अनुसरण करके काम किया जाये, तो हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब होगा तब होगा, परन्तु मेरी यह मान्यता है कि इस जिम्मेदारी को लेकर मैंने काँग्रेस में सच्चा प्रवेश किया।

भाग-१६ : खादी का जन्म

८१. खादी का जन्म

मुझे याद नहीं पड़ता कि सन १९०८ तक मैंने चरखा या करघा कहीं देखा हो। फिर भी मैंने 'हिन्द स्वराज्य' में यह माना था कि चरखे के ज़रिये हिन्दुस्तान की कंगालियत मिट सकती है। और यह तो सबके समझ सकने जैसी बात है कि जिस रास्ते भुखमरी मिटेगी उसी रास्ते स्वराज्य मिलेगा। सन १९१५ में मैं दक्षिण अफ़्रीका से हिन्दुस्तान वापस आया, तब भी मैंने चरखे के दर्शन नहीं किये थे। आश्रम के खुलते ही उसमें करघा शुरू किया था। करघा शुरू करने में भी मुझे बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। हम सब अनजान थे, अतएव करघे के मिल जाने भर से तो करघा चल नहीं सकता था। आश्रम में हम सब कलम चलाने वाले या व्यापार करना जानने वाले लोग इकट्ठा हुए थे; हम में कोई कारीगर नहीं था। इसलिए करघा प्राप्त करने के बाद बुनना सिखाने वाले की आवश्यकता पड़ी। पालनपुर से एक सिखाने वाला आया। उसने अपना पूरा हुनर नहीं बताया। परन्तु मगनलाल गांधी शुरू किये हुए काम को जल्दी छोड़ने वाले न थे। उनके हाथ में कारीगरी तो थी ही। इसलिए उन्होंने बुनने की कला पूरी तरह समझ ली और फिर आश्रम में एक के बाद एक नये-नये बुनने वाले तैयार हुए।

हमें तो अब अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए आश्रमवासियों ने मिल के कपड़े पहनना बंद किया और यह निश्चय किया कि वे हाथ-करघे पर देशी मिल के सूत का बुना हुआ कपड़ा पहनेंगे। ऐसा करने से हमें बहुत कुछ सीखने को मिला। हिन्दुस्तान के बुनकरों के जीवन की, उनकी आमदनी की, सूत प्राप्त करने में होने वाली उनकी कठिनाई की, इसमें वे किस प्रकार ठगे जाते थे और आख़िर किस प्रकार दिन-दिन क़र्ज़दार होते जाते थे, इस सबकी जानकारी हमें मिली। हम स्वयं अपना सब कपड़ा तुरन्त बुन सकें, ऐसी स्थिति तो थी ही नहीं। इस कारण से बाहर के बुनकरों से हमें अपनी आवश्यकता का कपड़ा बुनवा लेना पड़ता था। देशी मिल के सूत का हाथ से बुना कपड़ा झट मिलता नहीं था। बुनकर सारा अच्छा कपड़ा विलायती सूत का ही बुनते थे, क्योंकि हमारी मिलें सूत कातती नहीं थीं। आज भी वे महीन सूत अपेक्षाकृत कम ही

कातती हैं; बहुत महीन तो कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्न के बाद कुछ बुनकर हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूत का कपड़ा बुन देने की मेहरबानी की। इन बुनकरों को आश्रम की तरफ से यह गारण्टी देनी पड़ी थी कि देशी सूत का बुना हुआ कपड़ा खरीद लिया जाएगा। इस प्रकार विशेष रूप से तैयार कराया हुआ कपड़ा बुनवाकर हमने पहना और मित्रों में उसका प्रचार किया। यों हम कातने वाली मिलों के अवैतनिक एजेण्ट बने। मिलों के सम्पर्क में आने पर उनकी व्यवस्था की और उनकी लाचारी की जानकारी हमें मिली। हमने देखा कि मिलों का ध्येय खुद कातकर खुद ही बुनना था। वे हाथ-करघों की सहायता स्वेच्छा से नहीं, बल्कि अनिच्छा से करती थीं।

यह सब देखकर हम हाथ से कातने के लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जब तक हाथ से कातेंगे नहीं, तब तक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलों के एजेण्ट बनकर हम देशसेवा करते हैं, ऐसा हमें प्रतीत नहीं हुआ।

हमारी मुश्किलों का कोई अंत नहीं था। लेकिन न तो कहीं चरखा मिलता था और न कोई चरखे का चलाने वाला मिलता था। कुकड़ियाँ आदि भरने के चरखे तो हमारे पास थे, पर उन पर काता जा सकता है इसका तो हमें ख़याल ही नहीं था। एक बार कालीदास वकील एक बहन को खोजकर लाये। उन्होंने कहा कि यह बहन सूत कातकर दिखायेगी। उसके पास एक आश्रमवासी को भेजा जो नये काम सीख लेने में बड़े होशियार थे। पर हुनर उनके हाथ न लगा।

दिन तो बीते जा रहे थे। मैं अधीर हो उठा था। आश्रम में आने वाले हर ऐसे आदमी से, जो इस विषय में कुछ बता सकता था, मैं पूछताछ किया करता था। पर कातने का इजारा तो स्त्री का ही था। अतएव ओने-कोने में पड़ी हुई कातना जानने वाली स्त्री तो किसी स्त्री को ही मिल सकती थी।

सन १९१७ में मेरे गुजराती मित्र मुझे भड़ौंच शिक्षा-परिषद् में घसीट ले गये थे। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई मुझे मिलीं। वे पढ़ी-लिखी अधिक नहीं थीं, पर उनमें हिम्मत और समझदारी साधारणतया जितनी शिक्षित बहनों में होती है उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवन में अस्पृश्यता की जड़ काट डाली थी; वे बेधड़क अंत्यजों में मिलती और उनकी सेवा

करती थीं। उनके पास पैसा था, पर उनकी अपनी आवश्यकतायें बहुत कम थीं। उनका शरीर कसा हुआ था और चाहे जहाँ अकेले जाने में उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती थी। वे घोड़े की सवारी के लिए भी तैयार रहती थीं। इन बहन का विशेष परिचय गोधरा की परिषद् में प्राप्त हुआ। अपना दुःख मैंने उनके सामने रखा और दमयंती जिस प्रकार नल की खोज में भटकी थी, उसी प्रकार चरखे की खोज में भटकने की प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा बोझ हलका कर दिया।

गुजरात में अच्छी तरह भटक चुकने के बाद गायकवाड़ के वीजापुर गाँव में गंगाबहन को चरखा मिला। वहाँ बहुत से कूटुम्बों के पास चरखा था, जिसे उठाकर उन्होंने छत पर चढ़ा दिया था। पर यदि कोई उनका सूत खरीद ले और उन्हें पूनी मुहैया कर दे, तो वे कातने को तैयार थे। गंगाबहन ने मुझे खबर भेजी। मेरे हर्ष का कोई पार न रहा। पूनी मुहैया करने का काम मुश्किल मालूम हुआ। स्व॰ भाई उमर सोबानी से चर्चा करने पर उन्होंने अपनी मिल से पूनी की गुछलियाँ भेजने का जिम्मा लिया। मैंने वे गुछलियाँ गंगाबहन के पास भेजीं और सूत इतनी तेजी से कतने लगा कि मैं हार गया।

भाई उमर सोबानी की उदारता विशाल थी, फिर भी उसकी हद थी। दाम देकर पूनियाँ लेने का निश्चय करने में मुझे संकोच हुआ। इसके सिवा, मिल की पूनियों से सूत कतवाना मुझे बहुत दोषपूर्ण मालूम हुआ। अगर मिल की पूनियाँ हम लेते हैं, तो फिर मिल का सूत लेने में क्या दोष है? हमारे पूर्वजों के पास मिल की पूनियाँ कहाँ थीं? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहन को लिखा और एक पिंजारे को खोज निकाला। उसे ३५ रुपये या इससे अधिक वेतन पर रखा गया। मुझे अधिक वेतन देने का कोई संकोच नहीं हुआ। बालकों को पूनी बनाना सिखाया गया। मैंने रूई की भिक्षा माँगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाई ने रूई की गाँठें देने का जिम्मा लिया। गंगाबहन ने काम एकदम बढ़ा दिया। बुनकरों को लाकर बसाया और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। वीजापुर की खादी मशहूर हो गयी।

दूसरी तरफ आश्रम में अब चरखे का प्रवेश होने में देर न लगी। मगनलाल गांधी की शोधक शक्ति ने चरखे में सुधार किये और चरखे तथा तकुए आश्रम में बने। आश्रम की खादी के पहले थान की लागत फी गज सतरह आने आई।

मैंने मित्रों से मोटी और कच्चे सूत की खादी के दाम सतरह आना फी गज के हिसाब से लिए, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

मैं बम्बई में रोगशय्या पर पड़ा हुआ था, पर सबसे पूछता रहता था। मैं खादीशास्त्र में अभी निपट अनाड़ी था। मुझे हाथकते सूत की ज़रूरत थी। कत्तिनों की ज़रूरत थी। गंगाबहन जो भाव देती थीं, उससे तुलना करने पर मालूम हुआ कि मैं ठगा रहा हूँ। लेकिन वे बहनें कम लेने को तैयार न थीं। अतएव उन्हें छोड़ देना पड़ा। पर उन्होंने अपना काम किया। उन्होंने श्री अवन्तिकाबाई, श्री रमीबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकर की माताजी और श्री वसुमतीबहन को कातना सिखा दिया और मेरे कमरे में चरखा गूँजने लगा। यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि इस यंत्रने मुझ बीमार को चंगा करने में मदद की। बेशक, यह एक मानसिक असर था। पर मनुष्य को स्वस्थ या अस्वस्थ करने में मन का हिस्सा कौन कम होता है? चरखे पर मैंने भी हाथ आज़माया। किन्तु इससे आगे मैं इस समय जा नहीं सका।

बम्बई में हाथ की पूनियाँ कैसे प्रौप्त की जाएँ? श्री रेवाशंकर झवेरी के बंगले के पास से रोज़ एक धुनिया ताँत बजाता हुआ निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दों के लिए रूई धुना करता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना स्वीकार किया। भाव ऊँचा माँगा, जो मैंने दिया। इस तरह तैयार हुआ सूत मैंने वैष्णवों के हाथ ठाकुरजी की माला के लिए दाम लेकर बेचा। भाई शिवजी ने बम्बई में चरखा सिखाने का वर्ग शुरू किया। इन प्रयोगों में पैसा काफ़ी खर्च हुआ। श्रद्धालु देशभक्तों ने पैसे दिये और मैंने खर्च किये। मेरे नम्र विचार में यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उससे बहुत-कुछ सीखने को मिला। चरखे की मर्यादा का माप मिल गया।

अब मैं केवल खादीमय बनने के लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिल के कपड़े की थी। वीजापुर में और आश्रम में जो खादी बनती थी, वह बहुत मोटी और ३० इंच अर्ज़ की होती थी। मैंने गंगाबहन को चेतावनी दी कि अगर वे एक महीने के अन्दर ४४ इंच अर्ज़वाली खादी की धोती तैयार करके न देंगी, तो मुझे मोटी खादी की घुटनों तक की धोती पहनकर अपना काम

चलाना पड़ेगा। गंगाबहन अकुलायीं। मुद्दत कम मालूम हुई, पर वे हारी नहीं। उन्होंने एक महीने के अन्दर मेरे लिए ५० इंच अर्ज़ का धोतीजोड़ा मुहैया कर दिया और मेरा दारिद्र्य मिटाया।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गाँव से एक अन्त्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहन को आश्रम में लाये और उनके द्वारा बड़े अर्ज़ की खादी बुनवाई। खादी-प्रचार में इस दम्पती का हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने गुजरात में और गुजरात के बाहर हाथ का सूत बुनने की कला दूसरों को सिखायी है।

८२. पूर्णाहुति

अब इन प्रकरणों को समाप्त करने का समय आ पहुँचा है।

इससे आगे का मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि शायद ही कोई चीज़ ऐसी हो, जिसे जनता जानती न हो।

यह कहना ग़लत नहीं होगा कि इसके आगे मेरी कलम ही चलने से इनकार करती है।

पाठकों से बिदा लेते हुए मुझे दुःख होता है। मेरे निकट अपने इन प्रयोगों की बड़ी कीमत है। मैं नहीं जानता कि मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूँ या नहीं। यथार्थ वर्णन करने में मैंने कोई कसर नहीं रखी है। सत्य को मैंने जिस रूप में देखा है, जिस मार्ग से देखा है, उसे उसी तरह प्रकट करने का मैंने सतत प्रयत्न किया है और पाठकों के लिए उसका वर्णन करके चित्त में शांति का अनुभव किया है। क्योंकि मैंने आशा यह रखी है कि इससे पाठकों में सत्य और अहिंसा के प्रति अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

सत्य से भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया। यदि इन प्रकरणों के पन्ने-पन्ने से यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बनने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है, तो मैं इस प्रयत्न को व्यर्थ समझता हूँ। प्रयत्न चाहे व्यर्थ हो, किन्तु वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होने पर भी कच्ची है, अपूर्ण है। अतएव हज़ारों सूर्यों को इकट्ठा करने से भी जिस सत्यरूपी सूर्य के तेज का पूरा माप नहीं निकल सकता, सत्य की मेरी झाँकी ऐसे सूर्य की केवल एक किरण के दर्शन के समान ही है। आज तक के अपने प्रयोगों के अन्त में मैं इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि सत्य का संपूर्ण दर्शन संपूर्ण अहिंसा के बिना असंभव है।

ऐसे व्यापक सत्य-नारायण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए जीवमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की परम आवश्यकता है। और, जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि सत्य की मेरी पूजा मुझे राजनीति में खींच लायी है। धर्म का

राजनीति के साथ कोई संबंध नहीं है वह धर्म को नहीं जानता, ऐसा कहने में मुझे संकोच नहीं होता, और न ऐसा कहने में मैं अविनय करता हूँ।

बिना आत्मशुद्धि के जीवमात्र के साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा-धर्म का पालन सर्वथा असंभव है। अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रों में शुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट का संबंध है कि एक की शुद्धि अनेकों की शुद्धि के बराबर हो जाती है।

लेकिन मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्ध बनने का अर्थ है मन से, बचन से और काया से निर्विकार बनना, राग-द्वेषादि से रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुँचने का प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुँच नहीं पाया हूँ, इसलिए लोगों की स्तुति मुझे भुलावे में नहीं डाल सकती। उलटे, यह स्तुति प्रायः तीव्र वेदना पहुँचाती है। मन के विकारों को जीतना संसार को शस्त्र-युद्ध से जीतने की अपेक्षा मुझे अधिक कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आने के बाद भी मैं अपने भीतर छिपे हुए विकारों को देख सका हूँ, शरमिन्दा हुआ हूँ, किन्तु हारा नहीं हूँ। सत्य के प्रयोग करते हुए मैंने आनन्द लूटा है और आज भी लूट रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ. कि अभी मुझे विकट मार्ग तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है। मनुष्य जब तक स्वेच्छा से अपने को सबसे नीचे नहीं रखता, तब तक उसे मुक्ति नहीं मिलती । अहिंसा नम्रता की पराकाष्ठा है ऐसी नम्रता के लिए प्रार्थना करते हुए और उसके लिए संसार की सहायता की याचना करते हुए इस समय तो मैं इन प्रकरणों को बन्द करता हूँ।

* * * * *